DAMAGE BOOK

UNIVERSAL LIBRARY

OU_178929

UNIVERSAL LIBRARY

सुदर्शन-सुमन

राजा

(१)

"सौ साल।"

मैं चौंक पड़ा। मुझे अपने कानों पर विश्वास न आया। मैंने कापी मेज़ पर रख दी और अपनी कुरसी को पा आगे सरका कर पूछा—"क्या कहा तुमने? सौ तुम्हारी उम्र सौ साल है?"

ों कोटों को एक साथ बाँधते हुए धोबी ने मेरी तरफ़ और उत्तर दिया—"हां बाबू साहब! मेरी उम्र सौ। पूरी सौ साल। न एक साल कम न एक साल मेरी सूरत देख कर बहुत लोग धोखा खा जाते हैं।

ार तुम इतने बड़े मालूम नहीं होते। मेरा विचार था, (साल से ज़्यादा न होंगे।"

"नहीं बाबू साहब! पूरे सौ साल खा चुका हूँ।"

"बड़े भाग्यवान् हो। आज कल तो लोग पचास साल से पहले ही तैयारी कर लेते हैं।"

धोबी ने इस का कोई उत्तर न दिया।

सहसा मेरे हृदय में एक विचार उत्पन्न हुआ। मैंने पूछा—"अच्छा भाई धोबी! यह तो कहो, तुमने सिक्खों का राज्य तो देखा होगा।"

"हाँ देखा है।"

"उस राज्य में तुम सुखी थे या नहीं? मेरा मतलब यह है उस राज्य में लोगों की क्या दशा थी।"

धोबी ने मेरी ओर सतृष्ण नेत्रों से देखा, जैसे किसी को भूली हुई बात याद आ जाय और ठण्डी साँस भर कर बोला—"मैं उस ज़माने में बहुत छोटा था। सिक्खों का राज कैसा था, यह नहीं कह सकता। हाँ सिक्खों का राजा कैसा था, यह कह सकता हूँ।"

मेरे हृदय में गुदगुदी सी होने लगी, पूछा—"तो तुमने महाराज का दर्शन किया है?"

"हाँ सरकार! दर्शन किया है। क्या कहना! अजीब आदमी थे। उन की वह शक्ल सूरत याद आती है तो दिल में भाले से चुभ जाते हैं। बहुत दयालु थे। राजा थे, मगर स्वभाव साधुओं का था। घमण्ड का नाम भी न था। मैं आप को एक बात सुनाता हूँ। शायद आप को उस पर विश्वास न आए। आप कहेंगे, यह कहानी है। मगर यह कहानी नहीं

ा है। इस में झूठ ज़रा भी नहीं। इसे सुन कर होंगे। आप को अचरज होगा। आप उछल पड़ेंगे। ी हिन्दी जानता हूँ, पर मैंने बहुत किताबें नहीं पढ़ीं। त-दिन पढ़ते रहते हैं। परन्तु मुझे विश्वास है, ऐसी । आपने भी कम पढ़ी होगी।

मैं दत्त-चित्त हो कर सुनने लगा। धोबी ने कहा—

(२)

मैं धोबी हूँ। मेरा बाप भी धोबी था। हम उन दिनों लाहौर ही में रहते थे। पर आज का लाहौर वह लाहौर नहीं। हम उस ज़माने में जहां कपड़े धोया करते थे, वह घाट अब खुश्क हो चुका है। रावी नदी दूर चली गई है, और उस के साथ ही वह दिन दूर चले गए हैं। भेद केवल यह है कि रावी थोड़ी दूर जा कर नज़र आ जाती है मगर वह ज़माना कहीं दिखाई नहीं देता। भगवान जाने, वह कहां चला गया है।

मेरी उम्र उन दिनों सात-आठ साल की थी, जब चारों तरफ़ अकाल का शोर मचा। ऐसा अकाल इस से पहले किसी ने न देखा था। लगातार अढ़ाई साल वर्षा न हुई। किसान रोते थे। तालाब, नदी, नाले सब सूख गए। पानी सिवाय आंखों के कहीं नज़र न आता था। मुझे वे दिन आज भी कल की तरह याद हैं, जब हम लंगोट लगाए मुंह काले

कर बाज़ारों में डंडे बजाते फिरते थे कि शा
वर्षा होने लगे। मगर वर्षा न हुई। लड़कि
जलाती थीं, और उन के सिर पर खड़े हो कर छ
थीं। पानी बरसाने का यह नुस्खा उस युग में ब
गर समझा जाता था, लेकिन उस समय इस से भी
बना। मुसलमान मसजिदों में नमाज़ पढ़ते, हिन्दू मन्दि
पूजा करते, सिक्ख गुरुद्वारों में ग्रन्थ साहब का पाठ कर
मगर वर्षा न होती थी। भगवान् कृपा ही न करता था
दुनिया भूखों मरने लगी। बाज़ारों में रौनक़ न थी, दुकानें
पर ग्राहक न थे, घरों में अनाज न था। ऐसा मालूम होत
था, जैसे प्रलय का दिन निकट आ गया है। और सब रे
बुरी दशा तो जाटों की थी। मेरा बाबा कहता था, उस समय
उन के चेहरों पर सुर्खी न थी, आंखों में चमक न थी, शरी
पर मांस न था। सब की आंखें आकाश की ओर लगी
रहती थीं। मगर वहां दुर्भाग्य की घटायें थीं, पानी की घटायें
न थीं। अनाज रुपये का बीस सेर बिकने लगा।"

मैंने आश्चर्य से पूछा—"बीस सेर?"

"जी हां बीस सेर! उस समय यह भी बहुत महंगा था। आज-कल रुपये का चार सेर बिकने लगे, तो भी बाबू लोग अनुभव नहीं करते। मगर उस समय यह दशा न थी। मेरे घर में एक मैं था, एक मेरा बूढ़ा बाबा, एक विधवा मां, दो बहनें। इन सब का खर्च चार-पांच रुपये मासिक से अधिक न था।"

मैं ने अधीरता वश बात काट कर पूछा—"फिर ?"

"हां तो फिर क्या हुआ। अनाज बहुत महंगा हो गया, लोग रोने लगे। अन्त में यहां तक नौबत आ पहुंची कि हमारे घर में खाने को कुछ न रहा। ज़ेवर, बरतन सब बेच र खा गए। केवल तन के कपड़े रह गये। सोचने लगे, अब क्या होगा। मेरा बाबा, भगवान उसे स्वर्ग में जगह दे बड़ा हंस मुख मनुष्य था। हर समय फूल की तरह खिला रहता था। प्रायः कहा करता था, जो संकट आए, हंस कर काटो। रोने से संकट कम नहीं होता, बढ़ता है। मैं ने सुना है, मेरे बाप के मरने पर उस की आंख से आंसू का बूंद न गिरा था। परन्तु इस समय वह भी रोता था। कहता था, कैसी तबाही है, बाल-बच्चे सामने भूखों मरते हैं। और मैं कुछ कर नहीं सकता। यहां तक कि कई दिन हम ने वृक्षों के पत्ते उबाल कर खाए।

एक दिन का ज़िक्र है। बाबा आंगन में बैठा हुक्का पीता था, और आकाश की तरफ़ देखता था। मैंने कहा—"बाबा ! अब नहीं रहा जाता। कहीं से रोटी का टुकड़ा ला दो। पत्ते नहीं खाए जाते।"

बाबा ने ठण्डी सांस भरी और कहा—"अब प्रलय का दिन दूर नहीं।"

मैं—"प्रलय क्या होती है।"

बाबा—"जब सब लोग मर जाते हैं।"

मैं—"तो क्या अब सब लोग मर जाएंगे ?"

बाबा—"और क्या बेटा ! जब खाने को न मिलेगा, तब मरेंगे नहीं तो और क्या होगा ?"

मैं—"बाबा ! मैं तो न मरूंगा। मुझे कहीं से रोटी मंगवा दो। बहुत भूख लगी है।"

बाबा की आंखों में आंसू आ गए। भर्राई हुई आवाज़ से बोला—"ऐसा ज़माना कभी न देखा था। तुम वृक्षों के पत्तों से उकता गए हो। गांव के लोग तो मेंढक और चूहे तक खा रहे हैं।"

मैं—"बाबा ! ऐसी चीज़ें वे कैसे खा लेते हैं ?"

बाबा—"पेट सब कुछ करा लेता है।"

मैं—"पर ये चीज़ें बड़ी घृणित हैं।"

बाबा—"इस समय कौन परवा करता है भई !"

मैं—"उन का जी कैसे मानता होगा ?"

बाबा—"भगवान किसी तरह यह दिन निकाल दे।"

मैं—"बाबा, मेंह क्यों नहीं बरसता ?"

बाबा—"हमारी नीयतें बदल गई हैं। वर्ना ऐसा समय कभी सुना न था। आदमी आदमी के लहू का प्यासा हो रहा है। हर एक की दृष्टि में लाली है। मानो हर आंख में खून है, पानी नहीं है। तुम अजान हो, जाओ, कहीं से मांग लाओ शायद कोई तरस खा कर तुम्हें रोटी का एक टुकड़ा दे दे।"

मैं—"तो जाऊं।"

बाबा—"भगवान अब मौत दे दे। ग़रीब थे, पर किसी के सामने हाथ तो न फैलाते थे।"

(३)

मैं भूख से मर रहा था, रोटी मांगने को निकल पड़ा। मेरा विचार था, अकाल शायद ग़रीबों के यहां ही है। मगर बाहर निकला, तो सभी को ग़रीब पाया। उदास सब थे, खुश कोई भी न था। मैं बहुत देर तक इधर-उधर मांगता फिरा। मगर किसी ने रोटी न दी। मैं निराश हो कर घर को लौटा, पर पांव मन मन के भारी हो रहे थे।

सहसा एक जगह लोगों का समूह नज़र आया। मैं भी भाग कर चला गया। देखा, सरकारी आदमी मुनादी कर रहा है, और लोग उस के गिर्द खड़े खुश हो रहे हैं। मैं चकित रह गया। मैं समझ न सकता था कि उन के खुश होने का कारण क्या है। मगर थोड़ी देर बाद रहस्य खुल गया। महाराज रणजीतसिंह ने शाही क़िले में अनाज की कोठड़ियां खुलवा दी थीं, और घोषणा करा दी थी कि जिस जिस ग़रीब को आवश्यकता हो, ले जाए। दाम न लिया जायेगा। लोग महाराज की इस उदारता पर चकित रह गये। कहते थे ये आदमी नहीं, देवता हैं। मुसलमान कहते थे, कोई

औलिया हैं। अब ख़ुदा की खलकत भूखों न मरेगी। ख़ुदा नहीं सुनता, राजा तो सुनता है। खलकत के लिए राजा ही ख़ुदा है। एक आदमी कह रहा था महाराज ने आदमी बाहर भेजे हैं कि जितना अनाज मिल सके खरीद लाओ। मेरी प्रजा मेरी सन्तान है मैं उसे भूखा न मरने दूंगा।

दूसरा आदमी बोला—"मगर महाराज पहले क्या सो रहे थे? यह विचार पहले क्यों न आया, अब क्यों आया है?

पहले आदमी ने उत्तर दिया—"महाराज सोते नहीं थे, जागते थे। हर समय पूछते रहते थे कि अब अनाज का क्या भाव है, अब लोगों का क्या हाल है। कल तक यही पता था कि अनाज महंगा है। आज समाचार पहुंचा कि बाज़ार में अनाज का दाना भी नहीं मिलता। महाराज घबरा गए कि अब क्या होगा? आख़िर उन्हों ने आदमी बाहर भेज दिये कि जितना अनाज मिल सके, खरीद लाओ। मैं लोगों में मुफ़्त बांटूंगा। मेरे कोष में रुपया रहे या न रहे, मगर लोग बच जाएं।"

एक हिंदू बोला—"इन्हों ने तो कह दिया कि महाराज क्या पहले सोते थे? यह मालूम नहीं, महाराजों को एक की चिन्ता नहीं होती, सब की चिन्ता होती है।"

दूसरा—"भाई मेरा यह अभिप्राय थोड़ा ही था।"

पहला—"एक और बात भी है। महाराज ने बाहर के क़िलेदारों को भी यही आज्ञा भेजी है।"

दूसरा—"आफ़रीन है राजा हो, तो ऐसा हो।"

तीसरा—"कोई और होता तो कहता, वर्षा नहीं हुई तो इस में मेरा क्या दोष है। मेरे राज-भवन में सब कुछ है।"

दूसरा—"इस समाचार से मरते हुए लोगों में जान पड़ जाएगी।"

तीसरा—"आज शहर की दशा देखना।"

पहला—"किसी की आंख में चमक न थी।"

दूसरा—"ऐसा अंधेर कभी न हुआ था।"

तीसरा—"पर अब परमेश्वर ने सुन ली।"

मैं यहां से चला, तो ऐसा प्रसन्न था, जैसे कोई अनमोल चीज़ पड़ी मिल गई हो। कुछ देर संयम कर के मैं धीरे धीरे चला, फिर दौड़ने लगा। डरता था, कि यह शुभ-समाचार घर में मुझ से पहले न पहुंच जाए। मैं चाहता था, घर के लोग यह ख़बर मुझी से सुनें। गोली के सदृश भागा जाता था, मगर घर के पास पहुंच कर गति कम कर दी और धीरे धीरे घर में दाख़िल हुआ। मेरा बाबा उसी तरह सिर झुकाये बैठा था। मेरा हृदय ख़ुशी से धड़कने लगा—वह अभी तक न जानता था।

मुझे ख़ाली हाथ देख कर बाबा ने ठण्डी सांस भरी और सिर झुका लिया। मैंने जा कर बाबा का हाथ पकड़ लिया, और उसे ज़ोर से घसीटता हुआ बोला—"उठो, चादर लेकर चलो महाराज ने मुनादी करा दी है। अनाज मुफ़्त मिलेगा।"

मेरी मा, मेरी बहनें, मेरा बाबा सब चौंक पड़े। उन को मेरे कहने पर विश्वास न हुआ। सिर हिलाते थे, और कहते थे—"बच्चा है। किसी ने मज़ाक किया होगा। यह सच समझ बैठा है। भला महाराज सारे शहर को अनाज मुफ़्त कैसे दे देंगे? बहुत कठिन है।"

मगर मैंने कहा—"मैंने मुनादी अपने कानों से सुनी है। यह ग़लत नहीं है। लोग सुनते थे, और ख़ुश होते थे। तुम चादर ले कर मेरे साथ चलो।"

मेरा बाबा चादर ले कर मेरे साथ चला। उस को अभी तक संदेह था कि यह मज़ाक है। लेकिन बाज़ार में आ कर देखा, तो हज़ारों लोग उधर ही जा रहे थे। अब उस को मेरी बात पर विश्वास हुआ।

क़िले में पहुंचे, तो वहां आदमी ही आदमी थे। पर किसी अमीर को अन्दर जाने की आज्ञा न थी। फ़ाटक पर सिपाही खड़े थे। वे जिस के कपड़े सफ़ेद देखते उसे रोक लेते। कहते, यह अनाज ग़रीबों की सहायता के लिए है, अमीरों के घर तो अब भी भरे हुए हैं। यह ग़रीबों का लंगर था, अमीरों का भोज न था। मेरी इतनी उम्र हो गई है। मैं ने अमीरों के लिए सब दर खुले देखे हैं। उन को कहीं रोक-टोक नहीं होती। पर वहां अमीर खड़े मुंह ताकते थे, और उन की कोई परवा न करता था। हम ग़रीब थे, हमें किसी ने नहीं रोका। हम अन्दर चले गए। वहां देखा कि

सैकड़ों सरकारी आदमी तराजू लिए बैठे हैं, और तोल तोल कर २०-२० सेर अनाज सब को देते जाते हैं। लेकिन हर घर में एक ही आदमी को देते थे, दूसरों को लौटा देते थे। लोग बहुत थे, आगे बढ़ना आसान न था। मैं छोटा था, मेरा बाबा बूढ़ा था और हमारे साथ कोई जवान आदमी न था। हम ने कई आदमियों से मिन्नत की कि हमें भी अनाज दिलवा दो, मगर उस आपा-धापी के समय किसी की कौन सुनता है। मेरे बाबा ने दो बार आगे बढ़ने का यत्न किया, मगर दोनों बार धक्के खा कर बाहर आ गया। तब मैं और मेरा बाबा दोनों एक तरफ़ खड़े हो गए, और अपनी विवशता पर कुढ़ने लगे।

(४)

संध्या के समय जब अंधेरा हो गया, तब शंख के बजने की आवाज़ सुनाई दी। इस के साथ ही अनाज देने वालों ने अनाज देना बन्द कर दिया। हुक्म हुआ, बाक़ी लोग कल आ कर ले जायं। लेकिन अगर कोई दुबारा आ गया तो उस की ख़ैर नहीं, महाराज खाल उतरवा लेंगे। लोग निराश हो गए, पर क्या करते धीरे धीरे सारा आंगन खाली हो गया। हम कैसे चले जाते ? कई दिन से भूखे मर रहे थे। दोनों रोने लगे। बाबा बोला—"बेटा ! हम कैसे अभागे हैं, नदी के किनारे आ कर भी प्यासे लौट रहे हैं। जो भाग्य-

वान् थे, वे झोलियां भर कर ले गए। हम खड़े देखते रहे। अब ख़ाली हाथ लौट जायेंगे।

मैं—"बाबा! उन से कहो, हमें दे दें। हम बहुत भूखे हैं।"

बाबा—"कौन सुनेगा। चलो घर चलें। अनाज न मिलेगा, गालियां मिलेंगी।"

मैं—"तुम कहो तो सही।"

बाबा—"बेटा! तुम कैसी बातें करते हो। ये लोग अब न देंगे, कल फिर आना पड़ेगा।"

मैं—"तो आज क्या खाएंगे?"

बाबा—"ग़रीबों के लिए ग़म के सिवा और क्या है? आज की रात और सब्र करो।"

मैं—"बाबा! मैं तो न जाऊंगा। कहो, शायद दे दें।"

बाबा—"तुम पागल हो! क्या मैं भी तुम्हारे साथ पागल हो जाऊं।"

इतने में एक सरदार आ कर हमारे पास खड़ा हो गया, और बोला—"अब जाते क्यों नहीं? कल आ जाना, आज अनाज न मिलेगा।"

बाबा—(ठण्डी सांस भर कर) "जाते हैं सरकार!"

इस विवशता से उन सरदार साहब का दिल पसीज गया, ज़रा ठहर कर बोले—"तुम कौन हो?"

बाबा—"धोबी हैं।"

सरदार—"कल न आ सकोगे?"

बाबा—"आने को तो सिर के बल आएंगे। पर ग़रीब आदमी हैं। मैं बुड्ढा हूं, यह अभी बच्चा है। भीड़ में पता नहीं कल भी अवसर मिले, न मिले। आज मिल जाता तो रात पीस कर खा लेते।"

सरदार—"तुम्हारे यहां कोई जवान आदमी नहीं है ?"

बाबा—"नहीं सरकार ! इस बालक का बाप था, वह भी मर गया।"

सरदार—"तो कल आना कठिन है तुम्हारे लिए ?"

मैं—"सरकार आज ही दिला दें।"

सरदार—(हंस कर) "आओ आज ही दिला दूं।"

मैं—"बाबा कहता था, आज न देंगे। क्यों बाबा ?"

सरदार साहब हंसने लगे, मगर मेरे बाबा ने मुझे संकेत किया कि चुप रहो। मैं चुप हो गया। सरदार साहब ने कहा—"आओ तुम्हें दिला दूं।"

हम सरदार साहब के पीछे पीछे चले। उन्हों ने अनाज के ढेर के पास पहुंच कर एक आदमी से कहा—"इस बुड्ढे को बीस सेर गेहूं दे दो।"

वह आदमी मेरे बाबा से बोला—चादर फैला दो, और गेहूं तोलने लगा।

मेरा बाबा बोला—"सरकार ! अब फिर कब मिलेगा ?"

सरदार—"अगले सप्ताह।"

बाबा—"हम कई दिन से भूखों मर रहे हैं।"

सरदार—(हंस कर) " तो और क्या चाहते हो ?"

बाबा—"सरकार ! कहते हुए भी शरम आती है, क्या कहूं ?"

सरदार—'नहीं कह दो। कोई बात नहीं।"

बाबा—"बीस सेर और दिला दें तो बड़ी कृपा हो। आप की जान को दुआएँ देता रहूंगा।"

सरदार—"बड़े लोभी हो।"

बाबा—"सरदार साहब ! पेट मांगता है तब जीभ खुलती है। नहीं हम ऐसे बेग़ैरत कभी न थे।"

सरदार—"अगर इसी तरह तमाम लोग करें तो कैसे पूरा पड़े ?"

बाबा—"सरकार ! राजा के महल में मोतियों की क्या कमी है। नहीं होता तो न दें। फिर द्वार पर आ पड़ेंगे। महाराज ने इस ख़ैरात से लोगों के दिल मोह लिए हैं। शहर में बड़ा यश हो रहा है। (मुझ से) बेटा ! नमस्कार कर। उन्हों ने हमें बचा लिया नहीं रात रोते कटती।"

मैं—(आगे बढ़ कर) नमस्कार !

सरदार—(मुस्करा कर) जीते रहो बेटा ! तुम्हारा क्या नाम है ?

मैं—जग्गो !

सरदार—"अब अनाज मिल गया ना, जाओ रोटियां पका कर खाओ।"

मैं—"सरकार ! बीस सेर और दिला दें।"

सरदार—"अरे ! तू तो बाबा से भी लोभी निकला।"

मैं—"नहीं सरकार बीस सेर और दिला दें।"

सरदार—(अनाज तोलने वाले से) "बीस सेर और तोल दे। बूढ़ा बाबा बार बार कैसे आएगा।"

बीस सेर और मिल गया।

सरदार—"बाबा ! अब तो ख़ुश हो गए ?

बाबा—"वाहे गुरु आप का यश दूना करे।"

सरदार—"महाराज की जान को दुआ दो। यह सब उन की कृपा है, नहीं तो लोग भूखों मर जाते। और सच पूछो तो यह उन का धर्म था। न करते तो पाप के भागी बनते, राजा प्रजा का पिता होता है।"

बाबा—"सच है सरकार ! महाराज ऋषि हैं।"

सरदार—"ऋषि तो क्या होंगे। आदमी बनें तो यह भी बड़ी बात है।"

अब तक सब तोलने वाले आदमी जा चुके थे। क़िले में हमीं थे, और कोई न था। सरदार साहब बोले—"अब उठा कर ले जाओ।"

ग़रीब दावत में जा कर खाता बहुत है, यह नहीं सोचता पचेगा या नहीं। बाबा ने भी अनाज ले बहुत लिया अब उठाना मुश्किल था। क्या करें क्या न करें। उस समय सिक्खों का वही रोब था, जो आज अंगरेज़ों का है। बाबा

सहम कर बोला…"सरदार साहब गठरी भारी है। कोई सिर पर रख दे तो ले जाऊं।"

सरदार साहब ने गठरी उठा कर मेरे बाबा के सिर पर रख दी।

बाबा दो क़दम चल कर गिर गया।

सरदार साहब बोले—'क्यों भाई ! इतना अनाज क्यों बंधवा लिया जो उठाये नहीं उठता। बीस सेर लेते तो यह तकलीफ़ न होती। लोभ करते हो, अपनी देह की ओर नहीं देखते। जाओ, अपने किसी आदमी को बुला लाओ। तुम से न उठेगा।"

मेरे बाबा ने आह भरी, और कहा—"सरकार ! मेरी सहायता कौन करेगा ?

सरदार साहब ने कुछ देर सोचा, फिर वह गठरी अपने सिर पर उठा कर चलने लगे। हम दङ्ग रह गए। हमारे शरीर के एक एक अंग से उन के लिए दुआ निकल रही थी। हम सोचते थे, यह आदमी नहीं, देवता है।

(५)

यहां पहुंच कर धोबी रुक गया। कहानी ने बहुत मनोरंजक रूप धारण कर लिया था। मैं इस का अगला भाग सुनने को अधीर हो रहा था। मैं ने जल्दी से पूछा—"क्यों भाई धोबी फिर क्या हुआ।"

धोबी ने वायु-मण्डल में इस भांति देखा, जैसे कोई खोई वस्तु को खोज रहा हो और फिर दीर्घ निश्वास ले कर बोला—"जब हम घर पहुंचे और सरदार साहब अनाज की गठरी हमारे आंगन में रख कर लौटे तो मैं और मेरा बाबा दोनों उन के साथ बाज़ार तक चले आए। मेरा बाबा बार बार कहता था, इस का फल आप को वाह-गुरु देंगे। मैं इस का बदला नहीं दे सकता। एकाएक उधर से कुछ फ़ौजी सिक्ख निकल आए। वे सरदार साहब जहां खड़े थे, वहां रोशनी थी। फ़ौजियों ने उन को पहचान लिया, और तलवारें निकाल कर सलाम किया। यह देख कर मेरा बाबा डर गया। सोचा, यह कौन है? कोई बड़ा ओहदेदार होगा, वर्ना ये लोग इस प्रकार सलाम न करते।

जब सरदार साहब चले गए तब मेरा बाबा उन फ़ौजियों के पास पहुंचा, और पूछा—"यह कौन थे?"

उन में से एक ने मेरे बाबा की तरफ़ आश्चर्य से देखा, और जवाब दिया—"तुम नहीं जानते? यह हमारे महाराज थे।"

बाबा चौंक पड़ा। उस की आंखें खुली रह गईं। उस के मुंह से एक शब्द भी न निकला।

यह महाराज थे। वही महाराज जिन की आंख के इशारे पर फ़ौजों में हलचल मच जाती थी, जो अपने युग के सब से बड़े राजा थे। जिन के सामने अभ्युदय हाथ बांधता था।

आज वे एक धोबी के घर गेहूं की गठरी छोड़ने आए हैं। यह सच्चे महाराज हैं। इन का राज्य दिलों पर है।

उस रात हमें नींद न आई। सारा घर जागता था, और महाराज के लिए दुआ मांगता था। "दूसरे दिन बड़े ज़ोर की वर्षा हुई।"

यह कहानी सुना कर धोबी चुप हो गया। मेरे रोएं खड़े हो गए। आंखों में पानी भर आया। आज वह समय कहां चला गया? आज ऐसे राजा लोग क्यों नहीं नज़र आते। उन को भ्रमण का शौक़ है, विषय-वासना का चाव है, परन्तु अपनी प्रजा के हित-अहित का ध्यान नहीं।

मैं ने धोबी की तरफ़ देखा, उस की भी आंखें सजल थीं; मैं ने ठण्डी सांस भरी।

धोबी ने कपड़े गिन कर कहा—"बाबू साहब! लिखिए, चौदह पायजामे, बीस कमीज़ें।"

मैं ने कापी उठा ली, और लिखने लगा।

गुरु-मंत्र

(१)

आधी रात के समय नवयुवक एकनाथ ने बहुत धीरे से अपने मकान का दर्वाज़ा खोला, और बाहर निकल आया। गली, बाज़ार, गांव, सब सुनसान और अन्धकार-मय थे। एकनाथ ने एक क्षण के लिए ठहर कर अपने घर की तरफ़ देखा, अपने बूढ़े बाबा और निर्बल दादी का ख़्याल किया, अपने मित्र बन्धुओं के विषय में सोचा, और उस की आंखों में पानी आ गया। मगर यह निर्बलता कुछ ही क्षणों के लिए थी, जैसे कभी कभी पंछी पर खोलते समय रुक जाता है। एकाएक उस ने आंसू पोंछ डाले, और जल्दी जल्दी पांव उठाता हुआ गांव से बाहर चला गया। पिंजरे में दाना पानी सब कुछ था, परन्तु पंछी ने किसी की भी परवा न की और उड़ गया। चारों ओर अंधेरा था। दूर काले वृक्षों की काली छाया तले कुत्तों और गीदड़ों के रोने की आवाज़ें सुनाई दे रही थीं। घर में बूढ़े बाबा और दादी का वात्सल्य बेसुध

पड़ा था, मगर एकनाथ सम्पूर्ण दृढ़ता से झाड़ियों में उलझता हुआ, गढ़ों में गिरता हुआ, पत्थरों से ठोकरें खाता हुआ आगे चला जाता था और उसे इस बात की ज़रा भी चिन्ता न थी, कि मार्ग भयानक है और रात के अंधेरे में कई बलाएं छिपी हो सकती हैं।

प्रातःकाल जब दो वृद्धों के हृदय-विदारक आर्तनाद से पैठन गांव में कुहराम मचा हुआ था वह कई कोस की यात्रा समाप्त कर चुका था और एक नदी के किनारे बैठा अपने पांव धो रहा था, जिन्हें जङ्गल के कांटों ने लहूलुहान कर दिया था। उस की देह रतजगी यात्रा से चूर चूर हो रही थी, परन्तु उस के विचार आशा के आकाश में उड़ चले जाते थे और उन्हें रोकने की शक्ति पृथ्वी की किसी भी वस्तु में न थी। थोड़ी देर के बाद वह उठा और अपने गांव की तरफ़ मुंह कर के खड़ा हो गया। इस समय वह अपने घर की दशा का चिन्तन कर रहा था और अपनी आन्तरिक आंखों से वहां के दृश्य देख रहा था। हम अपना घर छोड़ सकते हैं, परन्तु उस की स्मृति को भूलना आसान नहीं।

इतने में एक मुसाफिर घोड़े पर सवार उधर से गुज़रा और एकनाथ के पास पहुंच कर रुक गया। एकनाथ ने दोनों हाथ बांध कर अभिवादन किया। मुसाफिर ने आशीर्वाद दिया। और पूछा—"कहां जाओगे भैय्या?"

एकनाथ ने अपने गांव की ओर पीठ मोड़ ली और अपने

सम्मुख फैले हुए विस्तृत जंगल की तरफ़ उंगली उठा कर उत्तर दिया—"बड़ी दूर !"

मुसाफिर—"मगर फिर भी कहां ?"

एकनाथ—" श्री गुरु जी के चरणों में ।"

मुसाफिर घोड़े से उतर आया और एकनाथ के कंधे पर स्नेह से अपना हाथ रख कर बोला—"तुम्हारा गुरु कौन है ?"

एकनाथ—"पण्डित जनार्दन पन्त ।"

यह कह कर एकनाथ ने दोनों हाथ बांध कर नम्रता से सिर झुका लिया, जैसे वह इस समय भी गुरु के सामने खड़ा था। मुसाफ़िर को नवयुवक की श्रद्धा पर आश्चर्य्य हुआ—"कौन जनार्दन पन्त ? क्या वही तो नहीं, जो देवगढ़ के दीवान हैं ?"

एकनाथ—"जी हां वही महात्मा जिन के सदृश दूसरा आत्म-संयमी आज सारे भारतवर्ष में नहीं है। क्या आप ने उन के दर्शन किए हैं ?"

यह कह कर उस ने मुसाफ़िर की ओर बड़ी उत्सुकता से देखा।

मुसाफिर—"हां, कई बार दर्शन किए हैं। परन्तु वह तो किसी को गुरु-मंत्र नहीं देते, न मैं ने उन के यहां कोई शिष्य देखा है। मुझे आश्चर्य्य है कि उन्हों ने तुम्हें कैसे चेला बना लिया।"

एकनाथ—(उदास हो कर) "उन्हों ने मुझे चेला नहीं बनाया।"

मुसाफ़िर—"अरे !"

एकनाथ—"मगर मैं ने उन को गुरु बना लिया। अब जा कर श्री-चरणों में लेट जाता हूं। देखूंगा कैसे कृपा नहीं करते ?"

मुसाफ़िर—"तुम्हारी आयु थोड़ी है अभी।"

एकनाथ—"समझदार के लिए थोड़ी भी बहुत है।"

मुसाफ़िर—"न तुम्हें संसार का अनुभव है।"

एकनाथ—"गुरु जी की कृपा-दृष्टि से अनुभव भी हो जाएगा"।

मुसाफ़िर—"यह मार्ग बड़ा विकट है।"

एकनाथ—"साहस हो, तो सारे काम बन जाते हैं।"

मुसाफ़िर ने हंस कर कहा—"मगर बेटा ! देवगढ़ तक कैसे पहुंचोगे ? बड़ी दूर है यहां से।"

एकनाथ—"जिन के दिल को लगी हो, उन के लिये दूरी कोई चीज़ नहीं है।"

मुसाफ़िर—"कोई घोड़ा क्यों नहीं ले लेते।"

एकनाथ—"गुरु जी के पास नंगे पांव ही जाना ठीक है।"

मुसाफ़िर ने यह बातें सुनीं, तो बड़ा ख़ुश हुआ। उस ने एक दुनियाँ देखी थी, मगर ऐसा नवयुवक उस की आंखों से आज तक न गुज़रा था। यह नवयुवक न था, श्रद्धा और

पुरुषार्थ की जीती जागती मूर्ति था। उस ने एकनाथ को प्रेम से देखा और घोड़े पर सवार हो कर चला गया।

(२)

कितने कष्ट सह कर, कितने सङ्कट झेल कर एकनाथ देवगढ़ पहुंचा, इस का अनुमान करना आसान नहीं। परन्तु देवगढ़ पहुंच कर उस को वह सारे कष्ट भूल गए। प्यासा हरिण जल की खोज में कितना भागता है, कैसा घबराता है, उस का शरीर थक कर पसीना-पसीना हो जाता है, परन्तु जल के समीप पहुंच कर उस की सारी थकान जाती रहती है, वहां जा कर उस का कुम्हलाया हुआ हृदय-कमल देखते देखते खिल उठता है। एकनाथ की भी यही दशा थी। वह अब गुरु जी की नगरी में आ पहुंचा था। वह स्वर्गीय स्वप्नों की पुण्य-भूमि में आ गया था, जिस के लिए उस की आंखें तरसती थीं।

तीसरे पहर का समय था, एकनाथ पण्डित जनार्दन पन्त की सेवा में उपस्थित हुआ। उस समय पण्डित जी सरकारी काग़ज़ देखने में तन्मय हो रहे थे। एकनाथ चुपचाप एक कोने में खड़ा हो गया और भक्ति-भाव से उन की ओर देखने लगा। यही वह व्यक्ति है, जो संसार और संसार के व्यवहार में रहते हुए भी संसार से बाहर है, जो गृहस्थ होते हुए भी अपने युग का सब से बड़ा भक्त है, जो देवगढ़ का दीवान भी

है, सूरमा सिपाही भी है, सेनापति भी है, और पण्डित भी है। यही वह राज-भक्त है, जिस का हिन्दू-मुसलमान दोनों सन्मान करते हैं, जिस के सामने सिर उठाने की बादशाह को भी मजाल नहीं। एकनाथ गद्गद् हो गया। उस की आंखों में पानी भर आया। सहसा पण्डित जी ने सिर उठाया और एकनाथ की तरफ देखा। एकनाथ के शरीर में बिजली की लहर सी दौड़ गई। यह तो वही मुसाफ़िर थे, जो उसे अपने गांव के पास मिले थे, जो हंस हंस कर बातें करते थे, जिन की आंखों में मन को मोहने वाली शक्ति भरी थी। एकनाथ दौड़ कर आगे बढ़ा और पण्डित जी के चरणों से लिपट गया। इस समय उस के आंसू पण्डित जी के पांव पर गिर रहे थे। मगर यह आंसू साधारण आंसू न थे, एकनाथ का प्रेम था, जो अपने गुरु के श्री-चरणों पर निछावर हो रहा था। यह उस की श्रद्धा थी, जो अपने देवता को रिझाने के लिए हृदय-गृह से चली थी।

पण्डित जी ने उसे पांव पर से उठाया और उद्दण्ड से उद्दण्ड पुरुष को भी बस में कर लेने वाले ढंग से मुस्करा कर कहा—"आख़िर तुम यहां आ गए! मगर बहुत कष्ट हुआ होगा।"

एकनाथ ने उन के पांव की तरफ़ देखते हुए उत्तर दिया—"श्री चरणों के दर्शन कर के सारा कष्ट भूल गया।"

पण्डितजी—"तो अब क्या इच्छा है?"

एकनाथ—"भगवान सब कुछ जानते हैं, अपने मुंह से क्या कहूं।"

पण्डितजी—"गुरु-मन्त्र चाहते हो क्या ?"

एकनाथ—"यह मेरे जीवन का सब से बड़ा स्वप्न है।"

पण्डितजी—"मैं साधारण गृहस्थ हूं, मुझ से तुम्हारा कल्याण क्या होगा ? किसी परमहंस के पांव क्यों नहीं पकड़ते ? बेड़ा पार हो जाए।"

एकनाथ—"मैं ने इस युग का सब से बड़ा परमहंस पा लिया, अब और कहां जाऊं ? आप गृहस्थ हैं, परन्तु आप की पदवी साधु संन्यासियों से भी ऊंची है।"

पण्डितजी—'यह तुम्हारी श्रद्धा है। मैं तो राजा का एक मामूली नौकर हूं।"

एकनाथ—"मगर मेरे लिए तो आप राजाओं के भी राजा हैं।"

यह कह कर एकनाथ फिर झुका और पण्डित जी के पांव में लेट गया। पण्डित जी निरुत्तर हो गए। विनय और श्रद्धा के सामने तर्क की पेश नहीं जाती। देवगढ़ के दीवान साहब एक साधारण ग्रामीण नवयुवक के सामने चुप थे, और न जानते थे कि उसे कैसे समझाएं ? सोच सोच कर उन्हों ने उसे उठाया और गम्भीरता से कहा—"हमें गुरु-मन्त्र देने में आपत्ति नहीं, परन्तु पहले तुम्हें सिद्ध करना होगा कि तुम इस के अधिकारी हो। कहो परीक्षा के लिए तैयार हो ?"

एकनाथ ने सिर झुका कर उत्तर दिया—"जी हां ! बड़ी ख़ुशी से।"

यह कह कर उस ने गुरु के पांव तले से मिट्टी उठाई और माथे पर मल ली। मानो, यह मिट्टी न थी, चन्दन का बुरादा था।

(३)

तीन वर्ष बीत गए। एकनाथ ने गुरु जी की सेवा में दिन रात एक कर दिया। ऐसी लगन से किसी बिके हुए दास ने भी अपने स्वामी की सेवा न की होगी। वह उन के कपड़े धोता था, उन के लिए धान कूटता था, पानी भरता था, बाल बच्चों को खिलाता था और इतना ही नहीं, उन के दफ़्तर का सारा काम अपने हाथ से करता था। दीवान साहब अब हिसाब आदि बहुत कम देखते थे, सारा स्याह-सफेद एकनाथ के हाथ में था। रियासत के लोग उस की ईश्वरदत्त योग्यता और कार्यपटुता देख कर वाह वाह करते थे। यहां तक कि राजा भी उस की प्रशंसा करता था। मगर एकनाथ को इस पर तनिक भी अभिमान न था। वह समझता था, गुरु जी परीक्षा ले रहे हैं। पास हो गया, तो जन्म-मरण के फंदे से मुक्त हो जाऊंगा।

प्रातःकाल था, पण्डित जी अपने मन्दिर में बैठे ईश्वर का भजन कर रहे थे और एकनाथ बाहर खड़ा था, कि कोई विप्र

न डाल दे। इतने में घोड़े के टापों का शब्द सुनाई दिया। एकनाथ डर गया। उसे भय हुआ कि कहीं इस से गुरु जी की समाधि न खुल जाए। उन का ध्यान टूट गया तो क्या जवाब दूंगा? वह जल्दी से वाहर निकला कि सवार को रोक दे। पर यह सवार कोई साधारण सवार न था; यह शाही सवार था, जो राजा का ख़ास परवाना ले कर आया था। एकनाथ ने आगे बढ़ कर कहा—"गुरु जी ईश्वर भजन कर रहे हैं। नीचे उतर आओ।"

सवार घोड़े से नीचे उतर आया और जेब से एक मुहर वाला लिफाफा निकाल कर बोला—"यह शाही परवाना है! अभी दीवान साहब के पास पहुंचा दो।"

एकनाथ ने लिफाफा ले लिया और उत्तर दिया—"वह तो समाधि में हैं।"

सवार—"कोई बात नहीं। जा कर समाधि से उठा दो।"

एकनाथ—"यह असम्भव है। (थोड़ी देर बाद) क्या बहुत ज़रूरी काम है।"

सवार—"अब मैं तुम से क्या कहूं? ज़रूरी है या नहीं। राजा साहब का हुक्म है। इसी समय पहुंचाओ। मैं पागल न था जो तुम पर ज़ोर देता।"

एकनाथ ने लिफाफे को उलट पुलट कर देखा, और कहा—"मगर ऐसी कौनसी बात है, जो ज़रा भी प्रतीक्षा नहीं कर सकती।"

सवार—"भैया ! मेरा कर्तव्य आज्ञा का पालन करना है। तुम जा कर सूचना देते हो या मैं ख़ुद जाऊं ? हर हालत में यह परवाना अभी उन के पास पहुच जाना चाहिए। ज़रा सी देर भी रियासत को बर्बाद कर देगी।"

एकनाथ—"मगर इस समय तो उन के पास कोई भी नहीं जा सकता। यहां तक कि यदि स्वयं राजा साहिब आ जाएं, तो उन को भी आगे न बढ़ने दूं। ईश्वर के ध्यान में हैं।"

सवार ने कुछ सोच कर धीरे से कहा—'तो तुम्हें साफ़ ही कहना पड़ेगा। शहर पर किसी दुश्मन ने हमला किया है। राजा साहिब यह परवाना भेज कर अपने कर्तव्य से निवृत्त हो गए। शहर बचे या बर्बाद हो, उन की बला से। और किसी को इस की फ़िक्र ही नहीं। ले दे के एक दीवान साहब हैं, जिन को शहर की हिफाज़त का ख़्याल है, और जिन के इशारे पर सिपाही मर मिटने को तैयार हैं। अब यह तुम ख़ुद ही सोच लो कि उन को इस वक्त सूचना देना मुनासिब है या नहीं। मगर मैं इतना कहे देता हूं कि उन को सूचना न हुई, तो दुश्मन किले की ईंट से ईंट बजा देगा।"

यह कह कर सवार चला गया, मगर उस के शब्द एक-नाथ के कानों में उसी तरह गूंज रहे थे। उस ने परवाना गुरु जी के काग़ज़ों में रख दिया और घुटनों पर सिर रख कर

सोचने लगा, कि क्या करना चाहिये ? उठाऊं या न उठाऊं ? ध्यान में हैं। जो राजाओं का भी राजा है, उस के दरबार में हैं। कहीं अप्रसन्न न हो जाएं, क्रोध में न आ जाएं। सब किये कराये पर पानी फिर जाएगा। एक दिन कहते थे, भगवान अपने भक्तों का काम स्वयं कर देते हैं। कहेंगे यह बात तुझे कैसे भूल गई ? लज्जित हो जाऊंगा, उत्तर न दे सकूंगा, उन के सामने सिर उठाने के योग्य न रहूंगा। तो ठीक है, मुझे चुप रहना चाहिये देखूं परमात्मा क्या करता है ?

एकनाथ निश्चिन्त हो गया और इधर उधर टहलने लगा। मगर चिन्ता शहद की मक्खी के समान है। इसे जितना हटाओ उतना ही और चिमटती है। एकनाथ को फिर इसी चिन्ता ने आ घेरा। कहीं वैरी निकट न आ पहुंचा हो, राजा ने जब ही ज़रूरी परवाना भेजा है। ऐसा न हो, मैं यहां मन्दिर के द्वार पर बैठा रहूं और गढ़ पर दुश्मन का अधिकार हो जाए। उस समय गुरु जी के मन की क्या अवस्था होगी ? बहुत नाराज़ होंगे। कहेंगे तुझे इतना भी विवेक नहीं कि समय कुसमय ही पहचान सके। हम समाधि में बैठे रहे, उधर शहर की सफ़ाई हो गई। इस का उत्तरदाता केवल तू है, जिस ने ऐसी मूर्खता की। एकनाथ असमंजस में पड़ गया। कभी सोचता उठा देना चाहिए, इस समय यही धर्म है। कभी सोचता नहीं उठाना चाहिए, समाधि में हैं। वह दोनों तरफ़ देखता था, परन्तु उसे दोनों

तरफ़ अन्धकार दिखाई देता था। प्रकाश कहीं भी न था। वह घबराहट की दशा में इधर उधर फिर रहा था। ऐसी दशा उस की आज तक कभी न हुई थी। अपने चारों तरफ़ काले नागों को फुंकारें मारते देख कर भी उस का विवेक नष्ट न होता। मगर इस समय ... ...।

वह बहुत व्याकुल था। उस के मस्तिष्क से पसीने की बूंदें टपक रही थीं। उस के मुंह का रङ्ग एक एक क्षण में बदलता था। जैसे वह उस के जीवन-मरण का प्रश्न हो। इस समय उसे कौन बचा सकता है? इस निराशा के भंवर से उसे कौन निकाल सकता है? सिवाय गुरु जी के और कोई नहीं। और गुरु जी........उस ने उन की ओर देखा। वह अभी तक आंखें बन्द किए ध्यान में बैठे थे। एकनाथ भूमि पर गिर पड़ा और फूट फूट कर रोया, मगर इस से क्या होता था! समय बहुत तेज़ी से उड़ा चला जाता था।

इतने में दुर्ग के बाहर दुश्मन की तोपें गर्जने लगीं। एकनाथ का पीला मुंह और भी पीला हो गया। अब सोचने का अवसर न था, काम करने का समय था। एक क्षण में इधर या उधर! एकनाथ ने अपने धड़कते हुए दिल पर हाथ रखा, अपनी तर्क-शक्ति को एकत्रित किया, एक मिनट के लिए सिर झुकाया और निश्चय कर लिया।

थोड़ी देर बाद वह गुरु जी की जंगी पोशाक पहने उन के जङ्गी घोड़े पर सवार था और देवगढ़ की वीर सेना उस के

पीछे "बम बम महादेव" करती हुई दुर्ग से बाहर निकल रही थी। एकनाथ लड़ा, और विजयी हुआ और दुश्मन को भगा कर वापस आ गया। परन्तु उस समय यह किसी को भी पता न था कि यह एकनाथ है, पंत जी नहीं हैं। एकनाथ ने घोड़ा अश्व-शाला में बांध दिया, कवच उतार कर दीवार के साथ लटका दिया और अपने वसन्ती रङ्ग के वस्त्र पहन कर चुपचाप अपने स्थान पर बैठ गया, जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

(४)

थोड़ी देर बाद गुरु जी की समाधि खुली और वह बाहर निकले। वहां हर एक के मुंह पर इसी घटना का बखान था। लोग कहते थे, आज दीवान साहब ने कमाल किया। उन की तलवार ऐसे चलती थी जैसे क़ैंची कपड़े पर चलती है। दुश्मन कैसे घमण्ड से आया था। मानो देवगढ़ में सिपाही नहीं बसते, पशु-पक्षी रहते हैं। मगर दीवान साहब ने उन के दांत खट्टे कर दिए। दीवान साहब को आश्चर्य हो रहा था कि यह कहते क्या हैं? कौन आया? किस ने आक्रमण किया? किस ने दांत खट्टे किए। इन को किसी भी बात का ज्ञान न था। आश्चर्य-चकित आगे बढ़े जाते थे कि एक स्थान पर कुछ आदमी बातें करते दिखाई दिए। दीवान साहब उन के पीछे खड़े हो गए और सुनने लगे।

एक आदमी कह रहा था—"आज तो दीवान साहब की चुस्ती चालाकी देखने योग्य थी।"

दूसरा—"हम उन से छोटे हैं, परन्तु हमें वह जोश नाम को नहीं। अद्भुत आदमी हैं।"

तीसरा—"आदमी ! वाह भाई वाह !! उन्हें आदमी कौन कहता है। वह तो कोई ऋषि हैं। पापी प्राणियों में यह शक्ति कहां ! जवानी, बुढ़ापा सब उन के बस में हैं। चाहे बूढ़े बन जाएं, चाहे जवान बन जाएं।"

चौथा मुसलमान था, वह गम्भीरता से बोला—"ज़रूर ज़रूर बड़े बहादुर हैं। आज तो बिलकुल नौजवान मालूम होते थे, वह बुढ़ापा कहीं नज़र ही न आता था।"

तीसरा—"और भैया ! हम तो देख रहे थे दुश्मन उन को देखते ही किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते थे, जैसे किसी ने मन्त्र पढ़ कर उन की संज्ञा छीन ली हो।"

चौथा—"आंखों से आग बरसती थी। सिद्धपुरुष महात्माओं के यही लक्षण हैं। जिस की तरफ़ देख लें वही वश में हो जाता है। कुछ करना चाहे तब भी नहीं कर सकता।"

दूसरा—"और उन का घोड़ा कैसा उड़ता चला जाता था, यह शायद आप ने नहीं देखा।"

तीसरा—"खूब देखा, दो ही घण्टे में दुश्मन मैदान छोड़ भागा। किस घमण्ड से आया था, मानो विजय निश्चित है"

चौथा—"अब कभी इस तरफ़ देखने का भी साहस न करेगा।"

पहला—"समझता होगा, बादशाह विलासप्रिय हैं, जाते ही विजय हो जाएगी यह पता न था कि पंत जी का सामना है। कैसा भागा!"

दूसरा—"अच्छी शिक्षा मिली। आजीवन स्मरण रखेगा।"

पांचवां—"परन्तु एक और बात भी सुनी है, सुन कर बुद्धि चकराती है। बड़ी अद्‌भुत बात है।"

पहला—"वह क्या?"

पांचवां—"कुछ लोगों का कहना है, जब वह दुश्मन से लड़ रहे थे, उसी समय वह अपने मन्दिर में भी बैठे थे।"

दूसरा—"हां हां हां! सुना तो हमने भी है।"

तीसरा—"परन्तु एक ही समय में दो स्थानों पर! यहां भी, वहां भी!! अचरज होता है।"

चौथा—"भाई जिस की पीठ पर परमेश्वर का हाथ हो, उस के लिए कुछ भी कठिन नहीं। भगवान जो चाहे, कर दे, उस का हाथ कौन पकड़ सकता है? वह चाहे तो तुम अभी आकाश में उड़ने लगो, हम मुंह देखते ही रह जाएं। प्रभु की लीला है।"

पांचवां—'और क्या?"

पहला—"यह दीवान साहब नहीं हैं, नगर-रक्षक देवता हैं।"

सहसा एक आदमी ने पीछे मुड़ कर देखा और दूसरे को

दिखाया। सब दंग रह गए। यह क्या ? दीवान साहब चले जा रहे हैं । एक बोला—"लो यह भी देख लो । हम में से किसी का रूप धारण कर के यहां खड़े थे, अब अपने रूप में जा रहे हैं। हम ने तो पहले ही कह दिया था कि यह महात्मा जो चाहें सो कर सकते हैं।"

अब दीवान साहब सब कुछ समझ गए। यह काम एकनाथ ही का है, किसी दूसरे का नहीं। उसी ने हमारे वस्त्र पहने और दुश्मन को हरा कर लौट आया । यह बालक कितना वीर है, कितना समझदार ? राजा का परवाना आया होगा हम समाधि में थे, हमें नहीं उठाया, स्वयं लड़ने चला गया। कोई मूर्ख होता, तो कहता, शहर लुटता है, तो लुटे। हमें क्या ? बैठे गुरु की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। उन्हों ने मन्दिर में पहुंचते ही एकनाथ को गले से लगा लिया और कहा—"तू ने मेरी लाज रख ली।"

एकनाथ बार बार उन के चरणों में गिरता था, कहता था—"आप मुझे लज्जित करते हैं। मैं ने तो कुछ भी नहीं किया।"

पण्डित जी ने उसे स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखा और कहा—"तुम्हारी वीरता की लोग भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं, मुझे यह पता न था कि तुम तलवार के भी धनी हो।"

एकनाथ—"यह सब आप की कृपा है, वरना मेरी भुजाओं में ऐसा बल कभी न था।"

पण्डितजी—"लोगों को सन्देह भी नहीं हुआ कि यह तुम हो, मैं नहीं हूं।"

एकनाथ—"और वास्तव में यह आप ही का प्रताप है, नहीं मैं किस योग्य था ? मुझे केवल इतना स्मरण है कि मैं ने आप के वस्त्र पहने और घोड़े पर सवार हुआ इस के बाद क्या हुआ इस का मुझे ज़रा भी ज्ञान नहीं। मुझे ऐसा मालूम होता था जैसे कोई दैवी शक्ति मुझे उड़ाए लिए जाती है, जैसे मैं अपने आपे में न था। अवश्यमेव आप ही की सत्ता मेरे शरीर में आ गई थी। अन्यथा यह विजय असम्भव थी। शरीर मेरा था, चेतना आप की थी।"

पण्डितजी—"लोग अब तक यही समझते हैं कि यह मैं ही था।"

एकनाथ—"स्वयं मेरी भी यही धारणा है। आपने मुझे एकमात्र अपना साधन बनाया था।"

इस श्रद्धा को देख कर पण्डित जी की आंखें सजल हो गईं। थोड़ी देर बाद बोले—"वत्स ! अब मैं बूढ़ा हो गया। इस पन में यह राज्य-कार्य्य करना बड़ा कठिन है। मैं चाहता हूं, अब चार दिन विश्राम करूं। दीवान की पदवी तुम संभालो तो मुझे छुट्टी मिले। आज की घटना ने मेरी आंखें खोल दी हैं। मुझे विश्वास हो गया है कि यह काम तुम खूब संभालोगे। राजा साहिब को भी आपत्ति न होगी। मेरा

जा कर दो शब्द कह देना ही काफी है, वे स्वीकार कर लेंगे। कहो तो अभी जाऊं।"

एकनाथ की आंखों में आंसू आ गए। उस ने दोनों हाथ बांध लिए, जैसे कोई भूल हो गई हो। वह भूमि पर मुंह के बल गिर पड़ा और नम्रता से बोला—"मुझे कुछ नहीं चाहिए। केवल आप के चरणों में पड़ा रहूं। मेरे लिए यही सब कुछ है।"

पण्डित जी एकनाथ का अभीष्ट समझ गए, परन्तु चुप रहे। अभी एक परीक्षा बाकी थी।

(५)

और कुछ ही दिनों बाद उस का समय भी आ गया।

प्रातःकाल था, एकनाथ पण्डित जी के स्नान के लिए पानी भर रहा था। इतने में पण्डित जी खड़ाऊं पहने हुए आए और मुस्करा कर बोले—"बेटा एकनाथ! कल नव वर्षारम्भ है। इस वर्ष का हिसाब किताब तैयार कर लो। समय थोड़ा है, केवल आज का दिन और आज की रात। परन्तु तुम्हारे जैसे योग्य आदमी के लिए यह कठिन नहीं।"

एकनाथ ने पानी का घड़ा हाथ से रख दिया।

पण्डितजी—"राजा साहिब कल हिसाब देखेंगे। तैयार हो जाएगा या नहीं? यदि न हो सके, तो मैं कर लूं।"

एकनाथ—(धीरे से) "मैं कर लूंगा।"

पण्डितजी—"तो जाओ आरम्भ कर दो। समय बहुत कम है।"

एकनाथ दफ़्तर में पहुंचा और हिसाब किताब देखने लगा। काम साधारण न था, सारे वर्ष का हिसाब था। और वह भी किसी साहूकार का नहीं, एक रियासत का। परन्तु एकनाथ के दिल में ज़रा भी घबराहट न थी, न मुंह पर चिन्ता के चिन्ह थे। उस ने किताबों का ढेर सामने रख लिया और पालती मार कर बैठ गया। सूरज आकाश में धीरे धीरे ऊंचा उठा, और सिर पर पहुंच गया। मगर एकनाथ उसी तरह बैठा हिसाब देखता रहा। सन्ध्या हो गई, पर एकनाथ को पता भी न था। नौकर आकर शमादान जला गया, एकनाथ काम में लगा रहा। उसे खाने पीने की सुध न थी, न सोने की इच्छा थी। ख्याल यह था, कि किसी प्रकार काम समाप्त हो जाए।

आधी रात बीत गई, एकनाथ ने सारा काम समाप्त कर लिया। सब कुछ ठीक था, केवल एक पैसे का फर्क था। एकनाथ के तेवर बदल गए। सोचने लगा, ज़रा सी भूल ने सारा काम चौपट कर दिया? उस ने रकमों को दूसरी बार जमा किया। फिर वही फर्क। फिर हिसाब किया। पर फ़र्क भी न निकला। एक पैसे का अन्तर ज्यों का त्यों था। एकनाथ घबरा गया। रात आधी से भी अधिक जा चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा था। लोग अपने अपने घरों

में सुख-चैन की नींद सो रहे थे, मगर एकनाथ शमादान के सामने बैठा था और सोचता था, कि पैसे का फ़र्क कहां है?

पिछले पहर पण्डित जनार्दन की आंख खुली। खिड़की से देखा, दफ़्तर में अभी तक प्रकाश है। समझ गए, एकनाथ जाग रहा है। वह धीरे से उठे और बाहर चले आए। दफ़्तर के बाहर चौकीदार भी ऊंघ रहा था, केवल एकनाथ जागता था। पण्डित जी ने धीरे से कहा--"एकनाथ!"

मगर एकनाथ ने कोई उत्तर न दिया, अपना हिसाब करता रहा। पण्डित जी ने फिर पुकार कर कहा--"एकनाथ!"

एकनाथ ने कुछ नहीं सुना।

पण्डित जी और आगे बढ़े, और ज़रा ऊंची आवाज़ से बोले—"एकनाथ!"

मगर जवाब में फिर वही सन्नाटा था, जैसे एकनाथ जागता न था, सोता था।

पण्डित जी को अचरज हुआ। वह और आगे बढ़े, और शमादान के सामने इस प्रकार खड़े हो गए कि उन के शरीर की छाया पुस्तक पर पड़ती थी। मगर एकनाथ को अब भी मालूम न हुआ। उस के लिए पुस्तक के अक्षर उसी तरह साफ़ और रोशन थे। वह हिसाब में तन्मय हो रहा था। उसे दीन-दुनियां की सुध न थी। इसी तरह आध घण्टा बीत गया।

सहसा एकनाथ को अपनी भूल का पता लग गया। उस

ने खुशी से सिर हिलाया, और हिसाब ठीक कर के पुस्तकें बन्द कर दीं। इस के बाद उस ने दोनों हाथ मिला कर सिर से ऊपर उठाए और जंभाई लेने लगा। इतने में उस ने चकित हो कर देखा, पण्डित जी सामने खड़े हैं। वह घबरा कर आगे बढ़ा और उन के पांव में झुक गया।

पण्डित जी ने पूछा—"हिसाब किताब हो गया?"

एकनाथ—"जी हां, हो गया। आप कैसे आए?"

पण्डितजी—"हम यहां बड़ी देर से खड़े हैं।"

एकनाथ चौंक पड़ा।

पण्डितजी—"हम ने तुम्हें कई बार बुलाया, मगर क्या जाने तुम कहां थे।"

एकनाथ—"मैं ने एक भी आवाज़ नहीं सुनी।"

पण्डितजी—"हमारी छाया से पुस्तक पर अंधेरा हो गया, तुम्हें इस का भी ज्ञान न हुआ।"

एकनाथ—(हाथ बांध कर) "अब क्या कहूं, मुझे सन्देह तक नहीं हुआ, कि कोई इस कमरे में खड़ा है। इस समय मेरी दुनियां केवल यह पुस्तक थी।"

पण्डित जी खड़े थे, बैठ गए और एकनाथ के मुंह की ओर देख कर बोले—"प्रातःकाल से इसी भांति बैठे थे क्या?"

एकनाथ—"जी हां, इसी भांति।'

पण्डितजी—"कुछ खाया पिया भी नहीं?"

एकनाथ—"जी नहीं।"

पण्डितजी—"नींद भी नहीं आई ?"

एकनाथ—"ज़रा भी नहीं।"

पण्डितजी—"इस समय क्या कर रहे थे ?"

एकनाथ—"एक पैसे का फर्क पड़ता था, उसे निकाल रहा था। बड़ी कठिनाई से पता चला।"

पण्डितजी—"एक पैसे के लिए इतना परिश्रम क्यों किया ? मामूली बात थी।"

एकनाथ—"मैं ने सोचा, भूल आख़िर भूल है। चाहे एक पैसे की हो, चाहे एक लाख की।"

पण्डित जी का चेहरा चमकने लगा। वह गम्भीरता से बोले—"वत्स ! तू ने मुझे प्रसन्न कर दिया। मेरी परीक्षा बड़ी कठिन थी। बड़े बड़े साधु-सन्त भी कदाचित् इस में सफल काम न होते, परन्तु तू सब में उत्तीर्ण हो गया। तू ने काले कोसों की यात्रा की, और सिद्ध कर दिया कि तेरा हृदय श्रद्धा का सागर है। तू ने सिद्ध किया कि तुझ में सेवा-भाव है। तू ने युद्ध-क्षेत्र में विजय प्राप्त की, जो प्रमाण इस बात का है तू वीरात्मा है, और तुझे मृत्यु का भय नहीं। और फिर दीवान की पदवी को ठुकरा दिया। कोई लोभी ऐसे अवसर पर फूला न समाता। यह त्याग-भाव कितना पवित्र कितना महान् है। परन्तु मैं ने तुझे उस समय भी गुरु-मंत्र न दिया। क्यों कि अभी एक परीक्षा बाकी थी, आज वह भी समाप्त हो गई। मैं देखना चाहता था कि तुझ में एकाग्रता है

या नहीं, जिस के बिना ईश्वर-भक्ति के मार्ग पर दो पग भी चलना असम्भव है। मैं आया, मैं ने तुझे आवाजें दीं, मैं ने तेरा प्रकाश रोक लिया, परन्तु तुझे मालूम भी न हुआ। यह एकाग्रता की पराकाष्ठा है। अब मैं तुझे गुरु-मंत्र देने को तैयार हूं। मुझे तेरे जैसे शिष्य पर गर्व है।"

इस समय एकनाथ के चेहरे पर ऐसा तेज था, जो इस मर्त्य-लोक में कभी कभी दिखाई देता है। आज उस का वर्षों का परिश्रम सफल हुआ है, आज वह परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ है। उस ने वहीं भूमि पर गिर कर घुटने टेक दिए।

पण्डित जी ने फिर कहा—"और मुझे यह भी आशा है, कि जिस प्रकार तू ने आज एक पैसे की भूल के लिए अपना इतना समय खर्च किया है, उसी प्रकार भक्ति मार्ग पर चलते हुए भी तू इस नियम को स्मरण रखेगा और छोटी से छोटी बुराई की भी अवहेलना न करेगा। अब जा कर आराम कर। कल मैं तुझे प्रकाश, पवित्रता, और अमर जीवन के सन्मार्ग पर चलने का उपदेश दूंगा।"

एकनाथ का चेहरा और भी चमकने लगा।

प्राचीन दिल्ली का अंतिम दीपक

(१)

जिन्हों ने सन् १८८० में दिल्ली का चांदनी चौक देखा है उन्हों ने सुभागी का भाड़ अवश्य देखा होगा। आज वह भाड़ दिखाई नहीं देता, न सायङ्काल उस का धुआं आकाश की ओर जाता नज़र आता है। वह पूरबी स्त्रियों का समूह, वह ग़रीबों का जमाव, वह बच्चों का कोलाहल जिस पर रसीले गीतों की मोहिनी निछावर की जा सकती है, यह सब अतीत काल की भूली हुई कहानी हो गई है। उस के स्थान में अब एक शानदार दुकान खड़ी है, जहां अमीरों की गाड़ियां आ कर रुकती हैं। कभी वहां सुभागी का भाड़ जलता था, और ग़रीब लोग आ कर अनाज भुनवाते थे। सुभागी कुरूपा स्त्री थी, आयु भी चालीस वर्ष से कम न होगी। उस की आवाज़ डरावनी थी। रात को एकान्त स्थान में दिखाई पड़ जाने से चुड़ैल का सन्देह होना स्वाभाविक था। मगर इस पर भी वह चांदनी चौक में ऐसे आनन्द और सन्तोष का जीवन

बिता रही थी जो राजमहलों में रानियों को भी प्राप्त न होगा। वह ग़रीब थी, उस के पास रुपया-पैसा न था, न बहुमूल्य वस्त्र थे। भाड़ झोंकने से केवल उतनी ही प्राप्ति होती थी, जितनी से शरीर और आत्मा का सम्बन्ध स्थिर रह सकता था। इस से अधिक कमाई करना उस के लिए असम्भव भी था। परन्तु उस के पास एक वस्तु ऐसी थी जो न राजमहलों में थी, न कुबेर के कोष में। उस के पास हृदय का सन्तोष और शान्ति की नींद थी, जिसे न चोर चुरा सकता था, न राजा छीन सकता था। वह उन्नीसवीं सदी में रहते हुए चौदहवीं सदी का जीवन व्यतीत कर रही थी, जैसे किसी के चारों तरफ़ आग काले नाग के समान अपना भयानक मुंह खोले लपक रही हो, मगर वह हरे वृक्षों से ढकी हुई नदी के किनारे बैठा उस की लहरों से खेल रहा हो और उसे इस बात की कोई चिन्ता—कोई शङ्का—न हो कि मेरे चारों तरफ़ आग भभक रही है। वह समझता है, यहां पानी है, इस पर आग का असर न होगा। इधर आएगी तो आप ही बुझेगी, मेरा क्या बिगाड़ लेगी। यही दशा सुभागी की थी। उस ने अपने जीवन के चालीस वर्ष इसी झोपड़े में काटे थे। इसे देख कर उस का हृदय-मयूर नाचने लग जाता था। दिल्ली बदल गई, चांदनी चौक बदल गया, मकान बदल गए। यहां तक कि दिल्ली की प्राचीन सभ्यता भी बदल गई, परन्तु सुभागी और उस के भाड़ में कोई परिवर्तन न हुआ। यदि

प्रकृति के नियम बदल जाते और धरती की कच्ची मिट्टी को निगले हुए मुर्दे उगलने की आज्ञा मिल जाती तो वे पहचान न सकते कि यह वही दिल्ली है। परन्तु सुभागी के भाड़ को देख कर वे अपनी समस्त शक्तियों से चिल्ला उठते कि यह वही दिल्ली है। सच पूछो तो यह सुभागी का भाड़ नहीं था, नवीन दिल्ली के शरीर में प्राचीन दिल्ली की आत्मा विराजमान थी। यह झोपड़ा नहीं था, दिल्ली के अंधेरे प्रकाश में पुराने भारतवर्ष का दीपक जल रहा था। आज वह सादगी की जान, सन्तोष का नमूना, पुराने समय की अन्तिम यादगार कहां है? वे आत्म-सम्मान के भाव किधर चले गए? किस देश को? दिल्ली के बाज़ार इस का उत्तर नहीं देते। पहले मन्दिर गया था, अब दीपक भी दिखाई नहीं देता।

सुभागी का झोपड़ा गगनभेदी अट्टालिकाओं के बीच इस तरह खड़ा था, जैसे अहङ्कार और अभिमान के बीच सच्चा आनन्द खड़ा मुस्करा रहा हो। सुभागी को किसी से डाह न था, न ऊंचे मकान देख कर उस का जी जलता था। उस के लिए वह झोपड़ा और वह भाड़ ही सब कुछ था। तीस वर्ष गुज़रे, जब उस का भड़भूँजा उसे ब्याह कर लाया था। तब से वह यहीं थी। मरते समय उस के पति ने कहा था, मैं तुझे लेने आऊंगा। बात साधारण थी, परन्तु सुभागी के दिल में बैठ गई। आज-कल की स्त्रियां शायद इस बात को निष्फल और निर्मूल कह कर भुला देतीं। मगर सुभागी

पुराने समय की नीच (?) स्त्री थी, वह अपने प्रीतम की प्रतिज्ञा को कैसे भूल जाती। यह उस के पति का वचन था। सोचती थी, कौन जाने, किस समय आ जाए। उस की आत्मा इस झोपड़े को, इस भाड़ को ढूंढ़ेगी, मेरा नाम ले ले कर बुलाएगी। पुराने ज़माने का भड़भूँजा नई दिल्ली में घबरा जाएगा। समझेगा, सुभागी ने प्रीति की रीति नहीं निबाही, प्रेम का दीया वायु के झोंकों ने बुझा दिया।' और यह वह विचार, वह भाव था, जिस के लिए सुभागी ने स्त्री हो कर संसार के दुःखों का मर्दों के समान सामना किया। शरीर भद्दा था, परन्तु दिल कैसा सुन्दर, कैसा मनोहर था। लोहे की खान में सोने का डला छिपा था।

(२)

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गए, और बदल जाने वाली दुनिया में न बदलने वाली सुभागी उसी तरह अपने परदेसी पिया का रास्ता देखती रही। मगर उसे उस की सुध न आई। यहां तक कि चांदनी चौक के अमीर व्यापारियों की लोभी आंखें सुभागी के भाड़ की तरफ़ उठने लगीं। ऐसी चाह से कोई रसिया अपनी हृदयेश्वरी की तरफ़ भी न देखता होगा। सोचते थे, कैसा अच्छा मौक़ा है, यहां दुकान बने तो बाज़ार की शोभा बढ़ जाए। कई व्यापारियों ने यत्न किया, थैलियां ले कर सुभागी के पास पहुंचे, मगर सुभागी ने बे-

परछाहीं से उन की तरफ़ देखा और कहा—"यह ज़मीन न बेचूंगी। यहां मेरा स्वामी बिठा गया है। मुझे लेने आएगा तो कहां ढूंढ़ेगा। यह झोंपड़ा नहीं, तीर्थराज है। इसे बेच दूं तो मेरा भला किस जुग में होगा ?"

एक व्यापारी ने कहा—सुभागी ! वह अब कभी न लौटेगा। तू यह आशा छोड़ दे।

सुभागी ने उत्तर दिया—परन्तु उस का वचन कैसे झूठा हो जाएगा। उस के शब्द आज तक मेरे कानों में गूंज रहे हैं।

एक और अदूरदर्शी ने कहा—इस बुढ़ापे में इतना परिश्रम क्यों करती है ? झोंपड़ा बेच दे और भगवान् का भजन कर।

सुभागी बोली—झोंपड़ा गया तो भजन की सुध भी जाती रहेगी। जिस ने पिया को भुला दिया वह भगवान् को खाक याद करेगी।

एक मुंहफट ने कहा—तू सठिया गई है। रुपये ले, और चैन की बंसी बजा। अब सारी आयु छाती फाड़ कर काम करने का क्या तू ने ठेका ले लिया है।

सुभागी ने उत्तर दिया—यह तो जन्म का काम है, मरने पर ही छूटेगा। चार दिन के सुख के लिए अपना घर कैसे बेच दूं।

"मगर इस में है क्या ?"

"मरनेवाले की समाधि है। समाधि को किस ने बेचा है?"

"तू तो बावली हो गई है।"

"भगवान् इसी तरह उठा ले, यही प्रार्थना है। तुम अपनी रक़म अपने पास ही रहने दो। मेरे लिए यह झोपड़ा ही सब कुछ है।"

"हम तुम्हें और मकान दे देंगे।"

"पराई वस्तु अपनी कैसे बन जाएगी ?"

"उस में सब तरह का आराम रहेगा। यह झोपड़ा तो किसी काम-काज का नहीं है।"

"अपना बच्चा बदसूरत हो तो भी प्यारा ही लगता है।"

इसी प्रकार प्रलोभनों ने बीसियों आक्रमण किए, मगर सन्तोष के सामने सब व्यर्थ गए, जिस तरह पानी की लहरें चट्टान से टकरा कर पीछे हट जाती हैं।

(३)

सुभागी के त्रिया-हठ ने सब का उत्साह भङ्ग कर दिया। उन्हों ने समझ लिया कि बुड्ढी भाड़ न बेचेगी। मगर सेठ जानकीदास ने हिम्मत न हारी। उन के दो दुकानें थीं और यह भाड़ उन दोनों के बीच में था। आस-पास फ़ानूस जलते थे मध्य में दीया टिमटिमाता था। यह दीया सुभागी के लिए जीवन-ज्योति से कम न था। उसे देखकर उस का हृदय ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता था। मगर जानकीदास उसे देखते तो उन की आंखों में लहू उतर आता। सोचते, यह जगह

मिल जाए तो दुकानों का कलङ्क मिट जाए। हज़ारों जवान मरते हैं, इस बुढ़िया को मौत भी नहीं आती। मगर बुढ़िया से मिलते तो बहुत सत्कार का भाव दिखाते। तलवार पर मख़मल का ग़िलाफ़ चढ़ा हुआ था।

एक दिन की बात है, सुभागी वृक्षों के रूखे-सूखे पत्ते और टूटी-फूटी टहनियां चुनने गई। दोपहर का समय था, सूरज की किरणें चारों तरफ़ नाच रही थीं। सुभागी बेपरवाही से पत्ते और लकड़ियां बिन रही थी। एकाएक आकाश में काली घटा छा गई और ठण्डा ठण्डा वायु चलने लगा। सुभागी ने एकत्र किए हुए पत्ते आदि कपड़े में बांधे, और नगर की ओर चली। परन्तु तीन मील की दूरी कोई साधारण दूरी न थी। इस पर सुभागी की बूढ़ी टांगें। वर्षा ने बुढ़िया को आ लिया। बादल बरसने लगे। मगर ये बादल न थे, सुभागी का दुर्भाग्य था। एक वृक्ष के नीचे खड़ी हो गई और सोचने लगी, सायङ्काल को क्या करूंगी। ये पत्ते भी भीग गए तो भाड़ कैसे गर्म होगा। और भाड़ गर्म न हुआ तो खाऊंगी क्या? हाथ उठा उठा कर प्रार्थना की कि तनिक वर्षा रुक जाए तो घर पहुंच जाऊं। परन्तु बादलों ने सुभागी की न सुनी। वे आकाश के वासी थे, पृथ्वी के बेटों की उन्हें क्या चिन्ता थी। जल-थल एक हो गया। उस दिन की वर्षा वर्षा न थी, भगवान् का कोप था। आठ घण्टे वह वर्षा हुई कि चारों तरफ़ कोलाहल मच गया, यमुना में बाढ़ आ गई।

सहस्रों ग़रीबों के मकान गिर गए। गाय-बैल इस तरह बहे जाते थे, मानो घासफूस के तिनके हैं। उन को बचाने वाला कोई न था। और यह पानी बाहर ही न था, दिल्ली के गली-कूचों में भी फुंकारें मारता फिरता था। जिन के मकान पक्के थे वे बेपरवा थे। जिन के कच्चे थे उन का धीरज छूटा जाता था। और पानी कहता था, आज बरस कर फिर न बरसूंगा।

सुभागी एक वृक्ष पर बैठी हुई इधर-उधर देखती थी, और निराशा की ठण्डी सांसें भरती थी। उस के आस-पास पानी ही पानी था। दूर तक कोई मनुष्य दिखाई न देता था। उस के एकत्र किए हुए पत्ते किसी अभागे के स्वप्न के सदृश जल में विसर्जित हो कर पता नहीं कहां चले गए थे। परन्तु सुभागी को उस की चिन्ता न थी। उस के दिल में एक ही चिन्ता थी, एक ही इच्छा—किसी तरह अपने घर पहुंच जाऊं। पता नहीं, भाड़ का क्या हाल होगा। पानी तले डूब गया होगा। मिट्टी का ढेर रह गया होगा। यदि उस के बस में होता तो उसी समय वहां पहुंच जाती, पर पानी रास्ता रोके खड़ा था, सुभागी तड़फ कर रह गई। इस समय उस ने एक कबूतरी देखी, जो एक वृक्ष की डाल पर बैठी थी। सुभागी ने सोचा, अगर मैं कबूतरी होती तो उड़कर चली जाती, पानी मेरा क्या बिगाड़ लेता। इतने में कबूतरी ने पर खोले और उड़ कर वह दृष्टि से ओझल हो गई। यह देख कर सुभागी ने सोचा राम जाने यह कबूतरी कहां गई है, शायद

मेरे झोपड़े की ही तरफ़ गई हो। उस ने चाहा कि मैं भी दौड़ कर वहां चली जाऊं। परन्तु झुक कर देखा तो आधा वृक्ष अभी तक पानी के अन्दर था और मार्ग दिखाई न देता था। सुभागी की आंखों से आंसुओं की दो गर्म बूंदें गिरीं, और वर्षा के ठण्डे जल में विलीन हो गईं।

दूसरे दिन प्रातःकाल सुभागी वृक्ष से उतरी, और शहर को चली। पानी बरसना बन्द हो चुका था, पर आसमान में बादल अभी बाक़ी थे। सुभागी का शरीर सर्दी से अकड़ा जाता था, आंखों से आग सी निकल रही थी, पांव में शक्ति न थी। परन्तु वह फिर भी चल रही थी, जैसे सन्ध्या-समय गऊ अपने भूखे बछड़े की तरफ़ भागती है। वहां पुत्र-स्नेह का आकर्षण होता है, यहां घर का मोह था। मिट्टी में भी मोहिनी है, मगर इसे देखने के लिए दिव्य-दृष्टि की आवश्यकता है। ख़ाली आंख से वह दिखाई नहीं देती।

सुभागी चांदनी चौक में पहुंची तब उस का दिल बैठ गया। अब न वह झोपड़ा ही बाक़ी था, न भाड़। उन के स्थान में वहां मिट्टी का एक ढेर और घास-फूस के तिनके पड़े थे और इन के नीचे उस का साधारण माल-असबाब दब गया था। सुभागी के दिल पर जैसे किसी ने आग के अंगारे रख दिए, मगर उस ने धीरज नहीं छोड़ा। थोड़ी देर के बाद लोगों ने देखा, तो वह झोपड़ा खड़ा कर रही थी। दूसरे दिन भाड़ भी तैयार हो गया। सुभागी फूली न समाती

थी। उस के पांव पृथ्वी पर न पड़ते थे। उस ने अपना उजड़ा हुआ घर वसा लिया था, जहां उस का पति उसे व्याह कर लाया था।

(४)

भाड़ वन गया, पर गर्म होना उस के प्रारब्ध में न लिखा था। सुभागी बीमार हो गई, उसे बुख़ार आने लगा। सेठ जानकीदास ने पूछा—सुभागी! तुझे यह क्या हो गया?

सुभागी—सेठ जी! वर्षा की सरदी खा गई हूं।

जानकीदास—और फिर दूसरी रात भी तो तू आराम से न बैठी। झोपड़ा तैयार न होता तो कौन सा प्रलय हो जाता।

सुभागी ने आश्चर्य्य की दृष्टि से सेठ साहब की ओर देखा, और पीड़ा से बेहाल हो कर कहा—सिर छिपाने को भी तो स्थान न था। कहां ठोकरें खाती फिरती।

जानकीदास—तू मेरे यहां चली आती तो क्या हर्ज था, मैं तेरा पड़ोसी हूं। कोई पराया तो नहीं हूं।

सुभागी—इस की तो तुम से आशा ही है।

जानकीदास—सुभागी, तू बनावट करती है। मेरी राय तो यह है कि मेरे यहां चली चल। वहां तेरी सेवा-शुश्रूषा होगी। बोल, क्या इरादा है।

सुभागी के दिल में पहले तो ख़याल आया कि चली चलूं, वृद्धावस्था में चार दिन आराम से कट जाएंगे। पर

फिर झोपड़े के मोह ने इरादा बदल दिया। साथ ही पति के अन्तिम शब्द भी स्मरण हो आए। आह भर कर बोली — सेठ जी! इस झोपड़े से मैं न निकलूंगी। मेरी अर्थी निकलेगी।

जानकीदास — तो यह कहो ना, मरने की ठानी है।

सुभागी — अगर मौत ही भाग में लिखी है तो उसे कौन टाल सकता है। परन्तु यह झोपड़ा तो न छूटेगा।

जानकीदास कुछ देर चुप रहे। इस के बाद एकाएक उन के दिल में कोई सुरुचिकर विचार उत्पन्न हुआ, जैसे निराशा के अंधेरे में आशा की किरण दिखाई दे जाती है। धीरे से बोले — बहुत अच्छा! पर मुझे इतनी तो आज्ञा दो कि तुम्हारी दवा-दारू और खाने-पीने का प्रबन्ध कर दूं। नहीं तो मुझे तुम से सदा के लिए शिकायत रहेगी।

सुभागी सीधी-सादी स्त्री थी। उस ने नई सभ्यता के छल-कपट नहीं देखे थे। वह उस युग की स्त्री थी जब लोग झूठ बोलना पाप समझते थे। सेठ साहब की मीठी मीठी बातों ने उस का दिल मोह लिया। उस ने घास पर पड़े हुए सुन्दर फूल देखे, मगर उन के नीचे जो नाग छिपा था उस की तरफ़ उस का ध्यान नहीं गया। उस ने उपकार के भाव से थरथराती हुई आवाज़ से कहा — भगवान् तुम्हारा भला करे। तुम आदमी नहीं, देवता हो।

सुभागी का इलाज होने लगा। ऐसी लगन से किसी दयालु अमीर ने अपने प्रिय सम्बन्धी का भी इलाज न किया

होगा। रात को कई कई बार उठ कर आते, और सिरहाने खड़े रहते। रुपया-पैसा तो पानी के समान बहा दिया। उन्हें उस की परवा न थी। उन का ख़याल था कि किसी तरह बुढ़िया बच जाय तो भाड़ की जगह आप से आप दे देगी, और जो न देगी तो कहूंगा मेरा रुपया चुका दे। ग़रीब भड़-भूजन है, इतना रुपया कहां से लाएगी।

छः महीने के बाद सुभागी चारपाई से उठी, तो उस का बाल बाल सेठ साहब का ऋणी था। उनका धन उस के झोपड़े को न ख़रीद सकता था, सहानुभूति से उसे भी ख़रीद लिया। अब सुभागी पहली सुभागी न थी, बेपरवा, प्रसन्न-वदन, शान्त-स्वभाव। अब उस की जगह एक ख़रीदी हुई दासी रह गई थी, जिस के चेहरे पर कभी कभी स्वाधीन सुभागी की स्वच्छ कान्ति दिखाई दे जाती थी। एक दिन वह था, जब सुभागी सेठ जानकीदास के आगे से ऐंठ कर निकल जाती थी, परन्तु आज उन के सामने उस की आंखें न उठती थीं। जिस काम को सख़्ती न कर सकती थी उसे नर्मी ने कर दिया। सुभागी सेठ साहब के पांव से लिपट गई और रोने लगी, परन्तु सेठ साहब ने उसे इस तरह उठा लिया, जैसे वह उन की अपनी मां हो।

कुछ दिनों के बाद चांदनी चौक के व्यापारियों ने सुना कि सुभागी ने अपना झोपड़ा सेठ साहब के हाथ बेच दिया है। यह ख़बर मामूली न थी, लोग चौंक पड़े। उन को इस पर

विश्वास न होता था। सिर हिला कर कहते, यह भी सेठ साहब की चाल है, बुढ़िया जीते जी झोपड़ा न छोड़ेगी। कोई कहता, सेवा की थी, मेवा पा लिया। कोई कहता, यह अन-होनी बात है, किसी ने यों ही उड़ा दी है। लेकिन जब झो-पड़ा उखाड़ कर फेंक दिया गया और खुदाई का काम आरम्भ हो गया तब सब को विश्वास हो गया। सेठ साहब ने बाज़ी मार ली।

(५)

सुभागी सीधी-सादी ज़रूर थी, पर मूर्ख नहीं थी। सेठ साहब की बात-चीत से उसे कुछ कुछ सन्देह होने लगा। मगर कभी कभी यह भी ख़याल आता कि कहीं मैं भूल तो नहीं कर रही हूं। सुभागी असमंजस में पड़ गई। उस ने आज तक किसी के सामने हाथ न पसारा था, न किसी के आगे आंखें झुकाई थीं। ग़रीब हो कर वह अमीरों की सी शान बनाये रहती थी। इस बीमारी ने उस का मान-धन लुटा दिया। उस का जीवन बच गया, पर जीवन-ज्योति जाती रही। वह अपनी दृष्टि में आप गिर गई। अब चांदनी चौक में उस के लिए आत्माभिमान की चाल चलनी कठिन थी। उस का हृदय कहता था, इस कलङ्क ने मुझे कहीं मुंह दिखाने के योग्य नहीं रक्खा। कुछ दिन इसी तरह गुज़रे। मगर हर रोज़ सन्ध्या के समय उसे ऐसा अनु-

भव होता, मानो उस के हृदय का अंधेरा, कन्धों का बोझा, जीवन का जञ्जाल बढ़ता चला जा रहा है, जैसे ऋणी का ऋण दिन प्रति दिन ज़्यादा होता जाता है। सोच सोच कर उस ने यही निश्चय किया कि सेठ साहब का ऋण टहल-सेवा कर के चुका दूं, नहीं तो चित्त को शान्ति न मिलेगी। यह सोच कर उस ने एक दिन सेठ साहब से कहा—सेठ साहब! तुम ने बड़ी कृपा की है। मेरा रोम रोम तुम्हें आशीर्वाद दे रहा है। मुझ में यह उपकार उतारने का साहस नहीं। एक ग़रीब मजूरनी क्या करेगी। पर मुझे मालूम तो हो कि मेरी बीमारी पर कितना ख़र्च हुआ है। धीरे धीरे उतार दूंगी।

सेठ साहब का कलेजा धड़कने लगा। जिस क्षण की बाट जोहते थे वह आ गया। वहीं से हिसाब देख कर बोले—"साढ़े चार सौ।"

साढ़े चार सौ? सुभागी का चेहरा कानों तक लाल हो गया। उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो ज़मीन आसमान घूम रहे हैं। कुछ देर चुपचाप खड़ी सोचती रही, इस के बाद आह भरकर बोली—साढ़े चार सौ? इतनी रक़म मेरी बीमारी पर उठ गई?

जानकीदास ने सिर नीचे डाल लिया और कहा—रोज़ डाक्टर आता था।

सुभागी हतबुद्धि सी खड़ी रह गई। क्या कहे, क्या न कहे, कुछ निश्चय न हो सका। जैसे भूले हुए मुसाफ़िर को

रात के अंधेरे में रास्ता नहीं मिलता तो हारकर बैठ जाता है, वैसे ही सुभागी ने कर्त्तव्य-विमूढ़ हो कर उत्तर दिया—यह ऋण मुझ से तो न उतरेगा।

जब हमें कोई सख़्त बात कहनी होती है तब ज़बान के नर्म बन जाते हैं। सेठ साहब ने अत्यंत कोमल स्वर में कहा-झोपड़ा बेच दो। ऋण उतर जाएगा। सेठ साहब जानते थे कि सुभागी के कौन बैठा है, जो उस की मौत के बाद झोपड़े पर अधिकार जमाने आएगा। इस समय वे अधीर हो रहे थे, जैसे नादान लड़का बुड्ढे पिता की मौत से पहले ही उस की सम्पत्ति का मालिक बनना चाहता है।

सुभागी की आंखें खुल गईं। जहां फूल थे, वहां नाग दिखाई दिया। अब कोई सन्देह न था। सुभागी की आंखों में शील था। यह पिशाच-काण्ड देखकर वह दूर हो गया, और क्रोध आ गया। चमक कर बोली—ज़बान संभाल कर बोल। झोपड़े की तरफ़ देखा भी, तो आंखें निकाल लूंगी।

सेठ साहब हंसे। इस हंसी में वे निर्दयता के भाव छिपे थे जो क़साइयों के दिल में भी न होंगे। फिर ज़रा ठहर कर बोले—तो सुभागी! मेरी रक़म लौटा दो। मैं तुम्हारा झोपड़ा नहीं मांगता।

सुभागी ने अभिमान से सिर उठाया और एक एक शब्द पर ज़ोर दे कर बोली—"अगर सच्चे भड़भूँजे की बेटी होऊंगी तो तुम्हारी कौड़ी कौड़ी चुका दूंगी। पर यह झोपड़ा तुम्हारे हाथ कभी न बेचूंगी।"

जानकीदास—बहुत अच्छी बात है। मैं भी देखता हूं कि कौन तुम्हें थैलियां खोले देता है।

सुभागी—मेरा भगवान् मर नहीं गया है।

जानकीदास—अगर तुम्हारा झोपड़ा बच जाए तो मुझे कम खुशी न होगी। मुझे तो अपनी रक़म चाहिए।

सुभागी-मुझे पता न था कि तुम्हारे दिल में कपट भरा है।

जानकीदास—कलयुग का ज़माना है। अब नेकी करना भी पाप हो गया है।

सुभागी—पर तुम से नेकी करने को कहा किस ने था?

जानकीदास—भूल हो गई, क्षमा कर दो। फिर ऐसा न होगा।

सुभागी—मैं समझती थी, नेक आदमी है। पर आज आंखों से पर्दा हट गया।

जानकीदास–यही ग़नीमत है।

सुभागी—तुम्हें झोपड़ा न मिलेगा। समझते होगे, दोनों दुकानें मिलाकर महल खड़ा कर लूंगा। इससे मुंह धो रक्खो।

अब जानकीदास को भी क्रोध आ गया, तेज़ होकर बोले-देखता हूं, कौन माई का लाल मुझे रोकता है। एक महीने के अन्दर अन्दर इस झोपड़े का नाम निशान तक न रहेगा।

जिस का हाथ नहीं चलता उस की ज़बान बहुत चलती है। सुभागी ने जो कुछ जी में आया कहा और अपने झोपड़े में जाकर रोने लगी। कभी अपने भाग को देखती, कभी

झोपड़े की कच्ची दीवारों को और फूट फूटकर रोती, जैसे लड़की सुसराल जाते समय रोती है । उस समय उस के हृदय में कितना दुःख होता है, सीने पर कितना बोझ । उसे दुनिया की कोई चीज़ अच्छी नहीं लगती । यही अवस्था सुभागी की थी । झोपड़े की एक एक वस्तु देखकर उस का दिल लहू के आंसू बहाता था । इसी उधेड़-बुन में तीन-चार दिन गुज़र गए ।

चौथे दिन एक आदमी शम्भूनाथ ने आकर पूछा—सुभागी ! अब तेरा क्या हाल है । तूने बड़ा कष्ट पाया ।

सुभागी—भगवान् की दया है ।

शम्भूनाथ—सुना है, सेठ जानकीदास ने तेरे लिए बहुत ख़र्च किया ।

सुभागी—भैया ! उस पापी का नाम न लो ।

शम्भूनाथ—शहर में तो बड़ा जस हो रहा है । कहते हैं कि उस ने सुभागी को बचा लिया । आदमी काहे को है, देवता है ।

सुभागी—मेरा बस चले तो उस का मुंह नोच लूं ।

शम्भूनाथ—असली बात क्या है ?

सुभागी—ऐसा हत्यारा सारी दिल्ली में न होगा । साठ-सत्तर रुपए ख़र्च कर के कहता है, साढ़े चार सौ उठ गए । मैंने सोचा था, सारी आयु सेवा करती रहूंगी । पर उस की आंखें तो झोपड़े पर हैं । कहता है, या रुपए दे या झोपड़ा

बेच। देखो तो कैसा अन्धेर है। इतना भी नहीं सोचता कि मेरे कौन बाल-बच्चे हैं मरूंगी तो झोपड़ा उसी को दे जाऊंगी। पर अब तो मेरा जी खट्टा हो गया है।

शम्भूनाथ—राम राम! कलयुग का ज़माना है। ऐसा हम ने कभी नहीं सुना था।

सुभागी—भैया! यह झोपड़ा तो उसे कभी न दूंगी।

शम्भूनाथ ने सहानुभूति से कहा—मगर क्या करोगी। वह तो नालिश कर देगा। सुभागी निरुत्तर हो गई। इस बात का कोई जवाब न था। आंखें सजल हो गईं, जो बेबसी की अन्तिम सीमा है। एकाएक उस ने सिर उठाया और धीरे से कहा—तुम्हीं न ख़रीद लो। मैं तुम्हारे हाथ आज ही बेच दूंगी।

शम्भूनाथ उछल पड़ा—सुभागी तुम ने खूब सोचा।

सुभागी—दांत खट्टे हो जाएंगे सेठ साहब के। मुंह देखते रह जाएंगे।

शम्भूनाथ—पता नहीं, संसार इतने पाप क्यों करता है।

सुभागी—धरती साथ तो न चली जाएगी।

इस के बाद ख़रीद-फ़रोख़्त की बात-चीत होने लगी। आठ सौ रुपए पर मामला हो गया। सुभागी के सीने से बोझ सा हट गया, मगर फिर चित्त पर उदासीनता सी छा गई, जैसे कोई व्यापारी अपने सौदे में कमा कर फिर किसी चिंता में निमग्न हो जाता है; और इस चिन्ता में उस की खुशी

जुगनू की चमक के सामान आंखों से ओझल हो जाती है।

रात इन्हीं चिन्ताओं में गुज़र गई। दूसरे दिन वह कचहरी में थी, और कचहरी का आदमी उस से कह रहा था—बुढ़िया! यहां अंगूठा लगा दे।

(६)

सुभागी ने ये शब्द सुने, मगर ठीक ऐसे, जैसे कोई स्वप्न में दूर की आवाज़ सुनता है, और उस का तात्पर्य कुछ समझता है, कुछ नहीं समझता। उस ने असावधानी से अंगूठा आगे कर दिया। कचहरी के आदमी ने उस पर स्याही पोत दी, और उसे पकड़ कर उस का निशान काग़ज़ पर लगा दिया। उसे क्या ख़बर थी कि यह स्याही मैंने काग़ज़ पर नहीं फेरी, अपने भविष्य शान्ति और चित्त के सन्तोष पर फेर दी है। शम्भूनाथ ने आठ सौ रुपए गिन कर उस की झोली में डाल दिए, सुभागी की आंखें चमकने लगी। यह चमक दीपक की लौ थी, जो बुझन से पहले एक बार हंसती है, और फिर सदा के लिए अथाह अंधेरे में लीन हो जाती है। कचहरी से बाहर आकर सुभागी को ख़्याल हुआ कि मैंने यह क्या कर डाला। इतने रुपए यदि उसे पहले मिल जाते तो अपने झोपड़े में जा कर शायद सौ बार गिनती और तब उन्हें कहीं दबा देती। पर अब कहां जाए? उस ने बहुत सोचा, चारों तरफ़ देखा, परन्तु कोई स्थान दिखाई न दिया।

लम्बी-चौड़ी दुनिया में वह अकेली थी। उस का कोई न था। उस के पास रुपये थे, सेठ साहब का ऋण चुका कर भी उस के पास साढ़े तीन सौ बच जाते। लेकिन उस के पास रुपये रखने को जगह न थी। अन्धी-बहरी दुनिया में कौन उस का हाथ थामेगा, किस छत के तले जाकर वह विश्राम करेगी। इधर-उधर सब आदमी थे, किन्तु सब पराये थे, उस का अपना कोई न था। एक झोपड़ा था, सारी आयु का मूनिस-ग़मख़्वार। सुभागी ने उस में आधी जवानी और आधे बुढ़ापे के दिन गुज़ारे थे। छोटे छोटे बच्चे, ग़रीब स्त्रियां, मज़दूर ये सब आ कर उस से अनाज भुनवाते थे। वह इन्हें अपना आत्मीय समझती थी। आज सब बिछुड़ गए। आज उस के घर का द्वार उस के लिए बन्द हो गया। बेचारी कहां जाए? किधर? लोग कचहरी से निकलते तो तेज़ी से शहर की ओर जाते। उन के घर होंगे। पर सुभागी का घर कहां है? उस के पास राजसी महल न था, शानदार भवन न था, था एक फूस का झोपड़ा और कच्चा भाड़। बेदर्दों ने वह भी छीन लिया। सुभागी रोने लगी। उस के हृदय-वेधी शब्दों ने राह जाते मुसाफ़िरों के पांव पकड़ लिए, किन्तु वे कुछ कर नहीं सकते थे।

सन्ध्या-समय था। सुभागी सेठ जानकीदास की दुकान पर पहुंची, और डरते डरते एक तरफ़ खड़ी हो गई, जैसे कोई फ़क़ीरनी हो। अब उस में वह उत्साह, वह साहस न

था, जिस की सारी दिल्ली में धूम मची हुई थी। उस समय वह घर की मालकिन थी, अब बेघर थी, जिस का सारे संसार में कोई न था। सेठ साहब ने उसे देखा तो आंखों में पानी छलकने लगा। अहङ्कार के लाखों शत्रु हैं, नम्रता का एक भी नहीं। लोग भेड़ें मारने को बन्दूक ले कर नहीं निकलते। अब सेठ साहब को किस पर क्रोध आता? एक बेघर की भिखारन पर? वे लोभी थे, पर ऐसे पतित, इतने अधम न थे। बोले—सुभागी।

सुभागी ने झोली सेठ साहब के पांव पर उलट दी, और कहा—ये लो, ये तुम्हारे रुपये हैं। संभाल लो। तुम ने साढ़े चार सौ कहा था, यह आठ सौ हैं। बाक़ी व्याज समझ लो।

कितना भारी अन्तर है सेठ साहब अमीर थे, साढ़े चार सौ न बख़्श सके। सुभागी ग़रीब थी, साढ़े तीन सौ ऐसे फैंक दिए, जैसे वे रुपये न थे, मिट्टी के ढेले थे। सेठ साहब को अपने पतन का अनुभव हुआ तो लज्जा ने मुंह लाल कर दिया। वे आगे बढ़े कि सुभागी के पांव पर गिर कर क्षमा के लिए प्रार्थना करें। उन्हें आज पहली बार ज्ञान हुआ कि इस बुड्ढी के हृदय में घर का ऐसा प्यार, इतना मोह भरा है। परन्तु सुभागी वहां न थी, हां, उस के रुपये दुकान की फ़र्श पर बिखरे पड़े थे। ये रुपये न थे, सुभागी के दिल के टुकड़े थे, लहू में सने हुए। सेठ साहब पर घड़ों पानी पड़ गया।

आधी रात को सुभागी अपने झोपड़े में पहुंची, पर इस तरह जैसे कोई चोर हो। वह फूंक फूंक कर पांव धरती थी। कोई सुन न ले. कोई देख न ले। कभी वह इस झोपड़े की रानी थी, आज परदेसिन। आज उस का इस पर कोई स्वत्व, कोई अधिकार न था। उस ने दीया जलाया, सब कुछ वहीं पड़ा था, उसी तरह। एक पीतल की थाली, एक लोटा, दो कटोरियां एक टूटी-फूटी चारपाई, बस यही सब उस की जायदाद थी। आज वह उन से विदा होने आई है। वह नये ज़माने की स्त्रियों में न थी, जो अपना घर छोड़ते समय एक आंसू भी नहीं बहातीं, न उन के दिल पर ऐसे दुःखोत्पादक दृश्य का कोई प्रभाव पड़ता है। वह पुराने युग की अनपढ़ और असभ्य स्त्री थी, जिस के लिए घर छोडना और शरीर छोड़ना दोनों बराबर थे। वह अपनी चीज़ों से लिपट लिपट कर रोई, मानो वे निर्जीव वस्तुएं न थीं, उस की जीती- जागती सखियां थीं। इस समय सुभागी का हृदय रो रहा था। प्रातःकाल लोगों ने देखा, सब कुछ वहीं पड़ा है, केवल सुभागी का पता नहीं। घर मौजूद था, घर वाली न थी। सेठ साहब ने बहुत खोज की। झोपड़ा शम्भूनाथ ने नहीं ख़रीदा था, उस की मार्फ़त खुद सेठ साहब ने ख़रीदा था। इस के लिए उन्हों ने कई साल यत्न किया था। मगर अब वे चाहते थे कि यदि सुभागी आ जाए तो उस की जगह उसी को लौटा दें। अब यह झोपड़ा उन्हें

अपनी दुकानों का कलंक न मालूम होता था। उन्होंने सुभागी की खोज की, पर उस का पता न मिला, यहां तक कि सेठ साहब निराश हो गए।

(७)

मगर सुभागी कहां थी ? दिल्ली से बाहर, जमुना के किनारे, जंगल में। कैसी आनवाली स्त्री थी। जहां घर की मालकिन बन कर कई साल गुज़ारे थे, वहां बेघर होकर एक दिन भी न गुज़ार सकी, और उसी रात जंगल में भाग गई। उसे शहर से घृणा हो गई थी। वह चाहती थी, ऐसे स्थान में जा रहे, जहां किसी परिचित का मुंह भी दिखाई न दे। वह मनुष्य की छाया से भी दूर भागती थी। उस का दिल टूट गया था। अब उस के कान आदमी की आवाज़ के भूखे न थे, न उस के लिए जगत् में आशा का मोहन गीत बाक़ी था। वह भूखी-प्यासी पागलों के समान चली जा रही थी। पता नहीं, कहां ? शायद वहां, जहां मनुष्य-समाज की सहानुभूति और आशा-किरण का जादू न हो। वह अब ऐसा स्थल ढूंढती थी, जहां कोई प्रसन्नता, कोई अभिलाषा, कोई मोहनी न हो। रात के अंधेरे में पत्थरों से टकराती, झाडियों से उलझती, गड्ढों में गिरती पड़ती, ऊंच-नीच फांदती सुभागी इस प्रकार चली जाती थी, जिस प्रकार उडते हुए पक्षी की छाया चली जाती है, और इसे कोई रोक

नहीं सकता। किसी दूसरे समय वह इस जंगल में आ कर कांप उठती, पर इस समय उसे जंगल से ज़रा भी भय न था। दुःख और निराशा में भय भी नहीं रहता और जो अंधेरा उस के हृदय में समाया हुआ था उस के सामने बाहर का अंधेरा तुच्छ था। वह मनुष्य और मनुष्य के विचार दोनों से दूर भाग रही थी। जंगल के हिंस्र जीव-जन्तु उसे आदमी से कहीं अधिक दयावान्, शीलवान् और उच्च मालूम होते थे। सोचती, ये झूठ नहीं बोलते, धोखा नहीं देते, बग़ल में छुरी छिपा कर मुंह से मीठी मीठी बातें नहीं करते। इन्हें चापलूसी करना नहीं आता। ये मनुष्य से हज़ार गुना अच्छे हैं। मनुष्य से इन की तुलना करना इन का घोर अपमान करना है।

इसी तरह सोचती मनुष्य-समाज और आधुनिक सभ्यता को कोसती हुई सुभागी जंगल के अंधेरे में बढ़ती चली जाती थी कि भूख-प्यास और सर्दी ने उस के पांव पकड़ लिए, और वह एक पत्थर पर बैठ कर रोने लगी। रात का समय था। जंगल में अन्धकार छाया हुआ था। आदमी का पुतला तक दिखाई न देता था। सुभागी अपने भाइ का स्मरण कर रोती थी, पर उस के आंसुओं को देखने वाला सिवा आसमान के तारों के और कोई न था।

यहां सुभागी को पुराने ज़माने की एक कुटिया मिल गई। इस में उस ने एक महीना काटा। वृक्षों के फल खाती, जमुना

का पानी पीती और रात को घास पर लेट रहती । यहां उस को कोई कष्ट न था, न खाने-पीने के लिए मज़दूरी करनी पड़ती थी। किन्तु घर का मोह यहां भी न गया । यह मिट्टी की जंज़ीर जीते जी किसी के पांव से कब उतरी है ? विवश होकर एक दिन उस ने कुटिया को छोड़ दिया और दिल्ली को लौट पड़ी। इस समय उस के पांव पृथ्वी पर नहीं पड़ते थे। मगर शहर के समीप आकर उस का दिल बैठ गया । कहां जाऊंगी ? इस शहर में अब मेरा कौन है ? लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे ? सोच सोच कर निश्चय किया कि रात को जाऊंगी, जिस में कोई देखने न पाए। पर रात बहुत देर में आई। हतभागों से समय की भी शत्रुता है !

सुभागी अपने झोपड़े के पास पहुंची, तो उस पर बिजली सी गिर पड़ी। वहां झोपड़ा न था, न उस का भाड़ दिखाई देता था। ज़मीन खुदी हुई थी, छोटी छोटी दीवारें खड़ी थीं। यह इमारत न थी, उस के सुखों की समाधि थी ! सुभागी ने एक चीख़ मारी, और वहीं बैठ गई। किन किन आशाओं से आई थी, सब पर पानी फिर गया। उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो चांदनी चौक की सारी रोशनी बुझ गई है और आसमान के तमाम तारों ने अंधेरे की चादर में मुंह छिपा लिया है। एका-एक उसे खयाल हुआ कि मेरा पति मुझे लेने आएगा तो कहां ढूंढ़ेगा ?

दूसरे दिन इस दुकान के दरवाज़े पर उस का मृत शरीर

पड़ा था। उस का वचन झूठा न निकला। उस ने दुनिया छोड़ दी, पर अपना झोपड़ा न छोड़ा। आज वह सुभागी कहां चली गई? किधर? किस देश को? वहीं, जहां उस का पति, उस का भाड़ उस का झोपड़ा जा चुका था। वह पुराने युग की स्त्री थी, अपने घर के बिना अकेली कैसे रहती? नई दिल्ली में पुरानी दिल्ली का अन्तिम दीया जल रहा था, वह भी बुझ गया।

सेठ जानकीदास कई दिन तक घर से बाहर नहीं निकले।

बचपन की एक घटना

अफ़सोस ! बचपन के वह हरे-भरे बाग़-बग़ीचे कहां चले गए ? वह जीवन, वह उल्लास, वह निश्चिन्तता, वह खेल-कूद का सुहावना समय आज भी याद आता है तो दिल को ठेस-सी लगती है। कैसा अद्‌भुत ज़माना था, जो इतनी जल्दी बीत गया ! कभी-कभी ऐसा मालूम होता है, जैसे अभी कल की ही बात है। इतने वर्ष गुज़र गए, दुनिया कहीं-से-कहीं जा पहुंची; मगर वह हाथ न आने वाला समय अभी तक बायस्कोप की तसवीरों के समान आंखों के सामने फिर रहा है। वह मैला बस्ता वह स्याही के दाग़ों से भरी हुई मोटे-मोटे अक्षरों वाली कापियां, वह शीशे की रंगदार गोलियां, वह बचपन के मित्र—क्या ऐसी चीज़ें हैं, जो कभी भूली जांय ! उन दिनों एक पैसा लेकर जो खुशी होती थी, वह आज सैकड़ों और हज़ारों रुपए लेकर भी नहीं होती। उन दिनों रबड़ की एक साधारण गेंद में जो आनन्द था, आज वह बड़े ओहदे में भी नहीं दिखाई देता। वे आंखें ही नहीं रहीं।

हम दो भाई थे, मैं और विष्णु। एक बहन थी। मैं उन सब में छोटा था, इस लिए माता-पिता मुझे सब से ज़्या प्यार करते थे। और मेरी मां तो मुझे बहुत ही चाहती असम्भव था कि मैं कोई चीज़ मांगूं और मुझे वह न मि में फल या मिठाई आती, तो सब से ज़्यादा हिस्सा म नए कपड़े सिलवाते समय भी सब से ज़्यादा बनते थे। यह पक्षपात मेरे बहन भाई के लि वे कभी-कभी इस पर झुंझला भी उठते थे, जाते थे; परन्तु मेरा इस से कुछ बिग मेरा पक्ष लेती थी। हाय शोक! वह जागती मूर्ति आज इस नश्वर देती, परन्तु उस का रानि गोल पवित्र प्यारा चेहरा अंकित है। पिताजी वहीं रहते थे; पर की पूर्ति कर देता कैसी प्यारी, कै

मुझे वह से कहीं बा के पास ह साथ ऐसा पर हाथ फे

तो मैं आंखों में आंसू भर कर एक कोने में चला गया, और क्रोध से बोला—"अब हम तुम से कभी न बोलेंगे। वापस 'ओगी, जब भी न बोलेंगे।"

मां के चेहरे पर मुसकराहट आ गई। उस ने मेरी ओर ण दृष्टि से देखा, और बहन को मेरे लिए चार पैसे दे नी गई। मैं वहीं खड़ा रहा, जब तक वह नज़र आती चुपचाप उस की तरफ़ घूर-घूर कर देखता रहा।

ˉ घर से बाहर निकलते ही मैं अधीर हो गया, कर दरवाज़े की तरफ़ दौड़ा, जैसे बछड़ा ˉ है। बहन ने मेरे हाथ पकड़ लिए। ा बहुत यत्न किया, उस का मुंह बाए; मगर उस ने न छोड़ा, मैं ई।

मेरी उमर बारह वर्ष पां से अलग न हुआ मुझे बहन के पास ल में कुछ-कुछ में बिलकुल अ- ा लौटेगी, जैसे

हन को हरदम . मिले थे, वह

भी मुझे ही खिला देती थी। वह चाहती थी, मैं उदास न हो जाऊं। मुझे हंसते-खेलते देख कर उस की आंखें चमकने लगती थीं। मेरे स्कूल से आने का समय होता, तो वह द्वार पर खड़ी मेरी राह देखा करती। मुझे देखती, तो आ कर मेरे हाथ से बस्ता पकड़ लेती, और कहती—मैं तेरी ही बाट जोहती थी, चल हाथ-मुंह धो कर खाना खा ले। रात को वह कुप्पी से ड्योढ़ी देखती और दरवाज़ा बन्द कर के हम को अन्दर ले जाती। मुझे अपने साथ सुलाती, और जब तक हम दोनों भाई सो न जाते, तब तक फूल-राजकुमारी की, सुनहरी नदी की, सब्ज़ परी की, काले देव की कहानियां सुनाया करती थी। ऐसा मालूम होता था, मानो मां की अनुपस्थिति में उस का सारा प्यार बहन ने ले लिया है। वही स्नेह था, वही त्याग, वही हृदय, वही भाव। कभी कभी संदेह होता था, यह बहन नहीं—मां है।

इसी तरह पांच दिन हंसी-खुशी में कट गए। छठे दिन स्कूल जाने लगा, तो ताक़ पर एक रुपया पड़ा देखा। मेरा दिल धड़कने लगा। सोचा, अगर यह रुपया मेरे हाथ लग जाए, तो मज़ा आ जाए, अपनी कक्षा में सब से अमीर बन जाऊं। जिस को दिखाऊं, वही दंग रह जाए। पिपरमेंट की टिकियां और खट्टी-मीठी अंग्रेज़ी गोलियां खरीद लूं, और सब को दिखा-दिखा कर खाऊं। वे मांगें, जब भी न दूं। एक रबड़ ले लूं, एक शीशे की चोर दवात, बहुत सी किताबों पर

चिपकाने वाले चित्र और एक गेंद। जो देखे वही वाह वाह करे।

सहसा विचार आया कि अगर चोरी पकड़ी गई, तो फिर क्या हो? पिट जाऊं, ऐसी बेभाव की पड़ें कि खाया-पिया सब निकल जाए। मैं ने रुपये की तरफ़ से आंखें हटा लीं और बाहर जाने को तैयार हुआ, मगर आंखें फिर उधर ही देखने लगीं। पिपरमेंट की टिकियां, खट्टी-मीठी गोलियां, रबड़, गेंद—सब चीज़ें सामने आ कर खड़ी हो गईं, और मुझे बुलाने लगीं। उठते हुए पांव फिर रुक गए। ख़्याल आया, कोई देखता थोड़े ही है। अगर कोई पूछेगा, तो साफ़ कह देंगे, हमें क्या मालूम। हम ने तो देखा भी नहीं। एक पैसा रोज मिलता है, वही खा लेते हैं। हम को रुपये से क्या मतलब?

मैं ने इधर-उधर देखा, मैदान साफ़ था। बहन बाहर आंगन में पुराने कपड़े छांट रही थी, विष्णु बस्ता बग़ल में दबाए गेंद को उछाल-उछाल कर गोंच रहा था, और मेरे सामने एकान्त में सफ़ेद, गोल, चमकदार रुपया ताक़ पर पड़ा था। मैं ने धड़कते हुए दिल से हाथ बढ़ाया, और रुपया उठा कर जेब में रख लिया।

स्कूल में पहुंचा, तो मेरा दिमाग़ आसमान पर था। ऐसा खुश था, जैसे मुझे राज-सिंहासन मिल गया है, जैसे मैं हवा में उड़ा जा रहा हूं। पढ़ने में किस मरदूद का जी लगता था। जिस के पास एकदम एक रुपया हो, अगर वह भी पढ़ने में

मन लगाए तो उस से अभागा और कौन होगा ? मैं बार-बार जेब टटोल कर देखता था कि रुपया वहीं है न, किसी ने निकाल तो नहीं लिया। आखिर एक बजा, और आधी छुट्टी हुई। मैंने सबसे पहले जाकर एक आने की खट्टी-मीठी गोलियां खरीदीं, एक आने का रबड़ लिया और बाकी पैसे जेब में डालकर अमीराना चाल से धीरे-धीरे स्कूल की तरफ लौट आया। इस समय मेरे पांव धरती पर न पड़ते थे। गोलियां मुंह में डालकर चूसता था, और सिर उठा-उठाकर दूसरे लड़कों की ओर देखता था; और कहता था—देखते क्या हो, एक आने की मिठाई है। तुम ने बहुत किया, पैसे की ख़रीद ली; हम ने एक आने की ख़रीदी है ! थोड़ी देर में मेरी अमीरी सब लड़कों में मशहूर हो गई। वे मेरे पास बैठने के लिए आपस में झगड़ने लगे। जब छुट्टी हुई, तो तीन लड़के मेरे साथ हो गए। जानते थे कि आज इस के पास बहुत पैसे हैं, खायगा और खिलायेगा।

अब सवाल यह था कि क्या खायं। बहुत देर 'बहस' होती रही। अन्त में दही-बड़े खाने का निश्चय हुआ। हम सब मिलकर चार लड़के थे, चार-चार पैसे के दही-बड़े खा गए। जनाब ! पूरी चवन्नी का खून हो गया, पर मुझे ज़रा भी परवा न थी—अभी काफ़ी रक़म बाकी थी। यहां से उठ कर मैंने चार पैसे की चूरन की पुड़िया लीं, और सब को एक-एक बांट दी। इस के बाद रेवड़ियां ख़रीदीं और जेबें

भर लीं। ज़रा आगे बढ़े, तो बिस्कुटों की दुकान नज़र आई। मेरे पांव वहीं रुक गए। शीशे की दवात, किताब पर चिपकाने वाली तसवीरें सब का खयाल जाता रहा। मैंने चार आने के बिस्कुट खरीद लिए और थोड़े-थोड़े अपने साथियों को देकर बाकी खुद खाने लगा। उन की वह सोंधी-सोंधी बू आज भी याद आ रही है। अब वे बिस्कुट कई बार फिर खाए हैं, मगर वह स्वाद कहां? वह बात ही और थी। जितने खा सकता था, खाए, बाकी काग़ज में लपेट कर बस्ते में रख लिए। रबड़, चूरन, रेवड़ियां और कुछ पैसे जो बच गए थे, वह भी वहीं रख लिये। इस से बढ़कर सुरक्षित स्थान मेरे पास और कोई न था। इतने में शाम हो गई। मैं डर गया। आज मुझे घर जाने में बहुत देर हो गई थी। मैंने अपने लोभी दोस्तों से छुट्टी ली और घर को भागकर चला।

बहन आज भी द्वार पर खड़ी मेरी बाट जोह रही थी। मुझे देखते ही गली में चली आई, और प्यार से डांटकर बोली—"आज कहां बैठ रहा था तू? यह भी ख़याल नहीं कि बहन राह देखती होगी।"

मैं पहले ही जानता था कि मुझ से देरी का कारण पूछा जायगा, इस का जवाब भी मैंने सोच रखा था, बिना संकोच के कहा—"चौक में भानमती का तमाशा हो रहा था, वहीं खड़ा हो गया ज़रा। बड़ा बढ़िया तमाशा था बहन!"

यह कह कर मैं जल्दी से घर में चला, ताकि बहन बस्ता

न देख ले। बस्ता रख कर आंगन में आया, तो बहन ने कहा—“ आ, खाना खा ले, विष्णु तो कभी का खा चुका।”

मगर मुझे भूख ही कहां थी, बोला—“ आज सारा दिन पेट में दर्द होता रहा है, अभी तो मुझे ज़रा भी भूख नहीं है।”

बहन ने आकर हाथ पकड़ लिया, और प्यार से पूछा—“ दर्द क्यों हो रहा है ?”

मैं क्या जवाब देता—“ पता नहीं ” के सिवा मेरे पास कोई जवाब न था।

बहन—“ सौंफ का अर्क मंगवा दूं । अभी आराम हो जायगा। क्यों ?”

मैं—“ नहीं बहन ! हम अर्क न पीयेंगे । बड़ा कड़ुवा होता है।”

बहन—“ मगर आराम तो हो जायगा उससे।”

मैं—“ हमारे अब दर्द थोड़ा ही होता है, वह तो स्कूल में होता था। अब बिलकुल आराम है। सिर्फ़ भूख नहीं है ।”

विष्णु ने दूर ही से कहा—“ झूठ बोलता है यह। लाओ पैसा, अभी दौड़कर कर ले आयें । नहीं, रात को चारपाई पर बैठकर रोएगा। फिर हम से कहोगी, जाता क्यों नहीं; पर हम अंधेरे में न जा सकेंगे, बेशक पड़ा रोया करे। और क्या ?”

मैं—“ न जाना, तुम्हारी मिन्नतें कौन करता है। चले हैं धमकियां देने।”

विष्णु—" जब रात में दर्द होगा, उस वक़्त पूछेंगे हम ।"

मैं—' तो क्या तुम्हें कभी न होगा । क्या कभी बुख़ार भी न चढ़ेगा । तब फिर हम भी तुम्हारे लिए दवा न लायेंगे।"

बहन—" मगर तुम अर्क पी क्यों नहीं लेते उस में चीनी छोड़ दूं तो ज़रा भी कडुआ न मालूम हो । एक मिनट में गले से उतर जाय "

मैं —" हमें दर्द नहीं, तो हम क्यों पियें ? इस की ज़रूरत ही नहीं है।"

बहन चुप हो गई, और जाकर खाना खाने लगी । अब मुझे सन्तोष हुआ कि मेरी चोरी की तरफ़ किसी का ध्यान ही नहीं है, मगर दूसरे दिन उठते ही सुना, बहन विष्णु से कह रही है—" देख विष्णु ! रुपया सीधे हाथ से दे दे, नहीं तो पिटेगा।"

विष्णु—" मगर मैंने तो रुपया देखा ही नहीं है, दे कहां से दूं ।"

बहन–" देखा नहीं है, तो क्या ज़मीन खा गई ?"

विष्णु—' हमें क्या मालूम । हरि ले गया होगा।"

मेरा कलेजा धड़कने लगा, परन्तु मैं करवट बदल कर चुपचाप लेटा रहा, मानो मुझे गहरी नींद आ रही है।

बहन—" हरि ऐसा लड़का नहीं है । मुझे उस पर ज़रा भी सन्देह नहीं । हो न हो, यह तेरी ही शरारत है । अब भी लौटा दे, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा, वर्ना याद रख,

मां जी अभी आती होंगी। पिट जाएगा। आते ही कह दूंगी।"

विष्णु—"सौ दफ़ा कह देना हज़ार दफ़ा कह देना, जब हम ने उठाया नहीं, तो हमें डर काहे का है।"

बहन – " फिर किस ने उठाया है ? बता !"

विष्णु—" हरि ने, (एकाएक चिल्लाकर और आवाज़ को लम्बा कर के) हां-आं ! जभी कल रात को भूख न थी (चुटकी बजाकर) अब समझा। जनाब ने मिठाई खाई होगी, जलसे किए होंगे। और नहीं क्या ?"

मालूम होता है, यह सुन कर बहन को भी हमारी नेक चलनी पर सन्देह हो गया। थोड़ी देर बाद वह आकर मेरी चारपाई पर बैठ गई, और मुझे धीरे से हिलाकर बोली– " हरि !"

मैं चुपचाप लेटा रहा।

बहन (ज़रा ज़ोर से)—" ओ हरि।"

मैं अब भी न बोला।

बहन – (मेरा कंधा हिला कर और भी ज़ोर से)— " हरि ! "

मैं आंखें मलता हुआ उठ कर बैठ गया, परन्तु बहन के मुंह की ओर देखने की मुझ में हिम्मत न थी।

बहन—"तुम ने ताक़ पर से रुपया तो नहीं उठाया ? कल ही रखा था।"

मैं—(आश्चर्य प्रकट करते हुए) —"मैंने ?"

बहन—"हां, तुम ने, अगर लिया हो तो दे दो, वर्ना मां जी आ रही हैं, अभी आध घंटे के अन्दर-अन्दर। स्टेशन पर पहुंच चुकी होंगी।"

मैं—"हम ने नहीं लिया। हम ने देखा भी नहीं। हम तो ताक़ की तरफ़ गए भी नहीं।"

बहन—"अजब बात है। न तुम ने लिया है, न विष्णु ने, तो फिर क्या चोर ले गए?"

मैं—"हमें क्या मालूम, हम ने नहीं देखा। अच्छी तरह ढूंढो, शायद चूहे ले गए हों।" बहन को मेरे अनाड़ी पन पर हंसी आ गई, बोली—"चूहे ले गए हों! यह खूब रही। देखो हरि! मुझे विश्वास हो गया है कि रुपया तुम ने चुराया है। सच-सच बता दो, कहां है?"

मगर मैं रोता था, और बार-बार कहता था—"मैंने रुपया नहीं देखा।"

इतने में विष्णु ने आकर मेरा बस्ता बहन के सामने पटक दिया, और बोला—'लो बहन जी! देख लो, यह रबड़ यह बिसकुट, यह चूरन, यह पैसे,—यह सब कुछ कहां से आया। तुम मानती ही न थीं। अब कहो, कौन चोर है?"

बहन ने सब चीज़ें देखीं, और पैसे गिन कर कहा—"अरे कुल दो आने बचे हैं! तो क्या चौदह आने खा गया तू? (सिर हिला कर) जभी रात भूख न थी। क्या खाया था?"

मेरा लहू सूख गया। मुंह में जीभ थी, जीभ में बोलने

की शक्ति न थी । मैं ज़मीन की तरफ़ देखता था, और सोचता था—अब क्या होगा, कल दही-बड़े, मीठी टिकियां और बिस्कुट खाए थे, आज मार खानी होगी । मैं चाहता था खाना खाये बिना स्कूल भाग जाऊं, परन्तु उस दिन इतवार था, भाग्य ने भागने का यह रास्ता भी बन्द कर रखा था । अब मेरे बचाव का एक ही तरीका था, मां आज न आयें । किसी कारण से एक-दो दिन और वहीं रुक जायें या मुझे बुखार चढ़ आये, या निमोनिया हो जाए । कभी-कभी यह भी ख़्याल आता था कि मकान की छत गिर पड़े और मैं नीचे दब कर ज़ख़्मी हो जाऊं, परन्तु परमात्मा ने मेरी कोई शुभ इच्छा पूरी न की, और थोड़ी देर बाद मां आ गई ।

किसी दूसरे समय मैं दौड़ कर मां की टांगों से चिमट जाता; मगर आज वह उमंग कहां ! उलटा उसे देखकर मैं अन्दर जा छिपा, परन्तु विष्णु को यह सब्र कहां कि दो मिनट भी चुप रह जाता । मां अभी आराम से बैठी भी न थी कि उस ने कहा—" मां जी ! कल हरि ने रुपया चुराया था ।"

पता नहीं, मां गाड़ी में किसी से लड़कर आई थी, या और कुछ कारण था; मगर इस समय वह ख़फ़ा ज़रूर थी । मेरी शिकायत सुनकर उसे और भी ज़हर चढ़ गया, बहन से बोली—"क्या बात है मोहनी ?"

बहन—"कुछ भी नहीं । पहले तुम नहा तो लो ।"

मां- "नहा बाद में लूंगी। कहां है. ज़रा बुलाओ तो उसे मेरे सामने। अब चोरी भी सीखने लगा।"

विष्णु—(उंगली से इशारा करके)—"अन्दर छिपा हुआ है मां जी! अभी यहां खड़ा था, तुम्हें आते देखा, तो अन्दर भाग गया। चौदह आने खर्च कर डाले। सिर्फ़ दो आने पैसे बचे हैं। कल सारा दिन बिसकुट खाता रहा है, रात कहता था—मुझे भूख नहीं है।"

बहन "भागता है या नहीं यहां से। चला है बड़ी खुश-ख़बरी सुनाने। दो मिनट चुप रहता, तो क्या तेरा पेट फट जाता; कलमुंहा कहीं का?"

मां—"चौदह आने खा गया एक दिन में! कहां है, मैं उस की हड्डियां तोड़ दूंगी। वह भी क्या याद करेगा कि कभी चोरी की थी। हरि! ओ हरि!! ज़रा यहां आ। छिपता कहां है?"

मैं धीरे-धीरे जा कर मां के सामने खड़ा हो गया; मगर इस हाल में जैसे शरीर में जान ही न हो। मां ने मेरी तरफ़ लाल लाल आंखों से देखा, और बोली—"तू ने चोरी की है?"

मैं ने अपनी सजल आंखों से उस की तरफ देखा, और ठण्डी सांस भर कर सिर झुका लिया।

मां—"बोलता क्यों नहीं?"

मैं अब भी चुप रहा।

मां—"अब तो जैसे मुंह में ज़बान ही नहीं है। मैं क्या

पूछ रही हूं। सुनता है, या नहीं ?"

मैं सोचता था—क्या करूं। बोलूं तो कठिनाई, न बोलूं तो कठिनाई। इधर मेरी चुप्पी मां की क्रोधाग्नि पर तेल का काम कर रही थी: पर मैं बोलता न था कि बोला तो पिट जाऊंगा।

आखिर मां का क्रोध सीमा पर पहुंच गया। उस ने रोटियां बेलने वाला बेलन उठा लिया और कहा "बोलता है या नहीं। तू ने चोरी क्यों की ?"

मैं –(डरते-डरते गालों पर हाथ रख कर)– "अब न करूंगा।"

परन्तु अभी बात पूरी भी न होने पाई थी कि बेलन मेरी पीठ पर था। एक बार 'हाय' का शब्द मेरे मुंह से निकला, और मैं चुप हो गया। मालूम होता है, मां मेरी चुप्पी से चिढ़ती थी। शायद सोचती हो कि यह रोता नहीं है इसलिए इसे अभी और सजा मिलनी चाहिए। उसने फिर बेलन उठाया, मेरी 'चीख-मय' हाय फिर हवा में गूंज उठी। फिर चारों तरफ़ निस्तब्धता छा गई। इसी तरह कई मिनट तक मैं ग़लत-फ़हमी में मार खाता रहा। आज सोचता हूं, अगर रोना शुरू कर देता, तो इतना कभी न पिटता; मगर उस समय बाल-नीति के इस चाल-कांड का ज्ञान ही न था। मैं चुपचाप मार खाता जाता था, मां का क्रोध बढ़ता जाता था। परमात्मा भला करे बहन का, जिस ने मुझे बचा लिया, वर्ना न जाने मेरे भाग्य में उस दिन क्या बदा था ?

दोपहर के समय बहन ने आ कर मेरे सिर पर हाथ फेरा,

और मुझ से कहा—"जा कर मां जी से क्षमा मांग ले, नहीं घर से निकाल देंगी।"

मैं भले लड़के की तरह मां के पास गया, और हाथ बांध कर धीरे से बोला—"फिर ऐसी भूल न करूंगा।"

मां ने मुझे पकड़ कर गले से लगा लिया, और फूट-फूट कर रोने लगी। रोती थी और कहती थी, बेटा! तू ने क्यों चोरी की। न चोरी करता, न मार खाता। उस समय क्रोध में मार बैठी। अब पछता रही हूं।

थोड़ी देर बाद उस ने मेरे लिए बाज़ार से गरम-गरम दूध मंगवाया, और जब तक सामने बैठ कर पिला न लिया, तब तक उसे चैन न आया। तब उस ने मुझे गोद में ले कर प्यार किया, और कहा—"बेटा! घर में मां-बाप और स्कूल में मास्टर तुम्हारे ही लिए मारते हैं। उन के मारने का बुरा नहीं माना करते।"

कुछ दिनों बाद स्कूल में मास्टर साहब ने किसी साधारण सी भूल पर मुझे इस तरह मारा, जैसे मैं ने कोई नर-हत्या कर डाली हो। मगर मारने के बाद उन की आंख में एक भी आंसू न था: न उन्हों ने मुझे गरम दूध पिलाया, न गोद में ले कर प्यार किया। मेरे मन में विचार आया, मां भी मारती है, मास्टर भी मारता है। निस्संदेह दोनों के दिल में मेरी भलाई की इच्छा है। परन्तु दोनों के मारने में कितना अन्तर है। मां मारती है, और रोती है: मास्टर मारता है, और भूल जाता है।

धर्म-सूत्र

(१)

ज्येष्ठ का महीना था, दोपहर का समय । आकाश से आग बरसती थी । बाज़ार खुला था, मगर वहां कोई आदमी नज़र न आता था । धूप की तरफ़ देखने से भी गरमी लगती थी, मानो यह धूप धूप न थी जलता हुआ अलाव था । लाला चंदूलाल और उन की स्त्री अपने मकान के कच्चे फ़र्श पर लेटे थे । परन्तु गरमी के मारे नींद न आती थी । हां, कभी-कभी ऊंघ जाते थे, जिस से मन और ज़्यादा ख़राब हो जाता था । इतने में किसी ने द्वार खटखटाया ।

लाला चंदूलाल सोते न थे, मगर उन को इस आने वाले पर क्रोध आया । सोचा ऐसे कुसमय में आने वाला कौन है ? हम तकलीफ़ में बहुत जल्द झुंझला उठते हैं । गरम पानी को उबालने के लिए तेज़ आग की आवश्यकता नहीं. हलकी-सी आंच ही काफ़ी है । लाला चंदूलाल ने उसी तरह लेटे-लेटे पूछा--"कौन है इस समय ?"

"जल्दी दरवाजा खोल दो।"

चंदूलाल का हृदय धड़कने लगा—यह उन के प्यारे मित्र द्वारकादास थे। उन का क्रोध एक क्षण में दूर हो गया। जल्दी से कुरता पहना। स्त्री से कहा, कपड़े ठीक कर लो। बिस्तर से चादर निकाल कर भूमि पर बिछा दो, और जा कर दरवाज़ा खोल दिया। द्वारकादास घबराए हुए अंदर आए। उन्हों ने कोट-टोपी उतार कर खाट पर रख दी, और आप भूमि पर लेट गए। मुंह से बात न निकलती थी।

चंदूलाल ने उन्हें प्रेम-पूर्ण क्रोध की दृष्टि से देख कर कहा—"इस दोपहर में बाहर निकलने की क्या पड़ी थी? ज़रा बच कर रहा करो, नहीं तो लू लग जाएगी।"

चंदूलाल की स्त्री जमना छोटा-सा घूंघट निकाले एक कोने में खड़ी थी। उस ने द्वारकादास की तरफ़ देख कर धीरे से कहा—"इस गरमी में भी भला कोई बाहर निकलता है! सारे कपड़े पसीने में तर हो गए।"

चंदूलाल ने पंखे की रस्सी खींचते हुए कहा—"मैं पंखा खींचता हूं। तुम कुंए से जा कर थोड़ा ताज़ा पानी ले आओ।"

जमना ने ज़रा भी ननु-नच न किया, और घड़ा उठा कर पानी लेने चली गई। थोड़ी देर बाद द्वारकादास ने आंखें खोलीं, और बोले—"यहां आ कर ऐसा मालूम होता है, जैसे किसी ने नदी में फेंक दिया हो। कैसी ठंडी जगह है, गरमी नाम को नहीं।"

चंदू०—"बाहर से आए हो तभी ये बातें बना रहे हो। हमारा तो दम घुटा जाता है।"

द्वारका०—"कदाचित् यही कारण होगा। बाहर तो आग बरसती है।"

चंदू०—"मगर तुम इस समय आए किधर से हो?"

द्वारका०—"एक असामी की तरफ़ गया था। उस ने बहुत तंग कर रक्खा है। सोचा, दावा करने से पहले एक बार अंतिम प्रयत्न कर देखूं, शायद मान जाए। परन्तु वह किसी की सुनता ही नहीं। अब नालिश किए बिना काम न चलेगा।"

चंदू०—"तो क्या पैदल गए थे?"

द्वारका०—"नहीं गया तो तांगे पर था। पर अब पैदल ही आ रहा हूं। समझो, जान बच गई। नहीं मरने में कसर न थी। तांगा टूट गया घोड़ा ज़ख़मी हो गया।"

चंदूलाल ने आश्चर्य से पूछा—"और यह कैसे?"

द्वारका०—"घोड़ा बेकाबू हो गया था। तांगा एक वृक्ष से टकरा गया।"

चंदू०—"और, साईस क्या सो रहा था?"

द्वारका०—"उसने हाथ-पांव तो बहुत मारे; पर उस की कुछ चली नहीं। कुसमय में साहस भी साथ छोड़ देता है।"

चंदू०—"ख़ैर! जान बच गई, यही बड़ी बात है। कहो खाना तो अभी न खाया होगा?"

द्वारका०—"कभी का खा चुका। एक मित्र मिल गए थे, उन्होंने खिला दिया।"

एकाएक द्वारकादास ने इधर-उधर देखकर पूछा—"भाभी जी कहां चली गईं?"

"तुम्हारे लिए पानी लेने गई थीं—लो, वह आ गईं।"

द्वारकादास को बहुत दुःख हुआ। हम अपने मित्र को कष्ट दे सकते हैं, उस से लड़ाई-झगड़ा करने में भी हमें संकोच नहीं होता। मगर मित्र की स्त्री के सामने पहुंच कर हम धर्म और दया के अवतार बन जाते हैं। द्वारकादास ने कहा—"यह तुमने इन पर ज़ुल्म किया है। मैं दुबारा तुम्हारे यहां पैर न रक्खूंगा।"

इतने में जमना पानी का घड़ा लिए अंदर आ गई, और बोली—"शरबत घोल दूं?"

द्वारकादास ने उस की तरफ कातर दृष्टि से देखकर कहा—"भाभी! तुम ने मुझ से क्यों न कहा? मुझे मालूम नहीं हुआ, नहीं तो इस धूप में तुम्हें बाहर न निकलने देता।"

जमना लजा गई, जो सुशीला स्त्रियों का स्वभाव है। उस ने मुंह से कुछ न कहा। परन्तु उस के हाव-भाव साफ़ कह रहे थे—यह तो रोज़ का काम है, कोई नई बात नहीं।

(२)

द्वारकादास ने ठंडा जल सिर में डाला, मिसरी का शर-

बत पिया, तब जान में जान आई। मगर अभी उन में घर जाने की शक्ति न थी। ऐसी गरमी में तीन मील का सफ़र कौन तय करे? दो बज गए थे, यह समय उन के सोने का था। आंखें अपने आप बंद होने लगीं। शरीर में आलस्य छा गया, जो निद्रादेवी के आगमन की पूर्व-सूचना है। द्वारकादास ने बहुत यत्न किया कि आंखें बंद न हों। परन्तु नींद का रोकना आसान नहीं। आखिर हंसकर बोले—"भाई साहब! भाभी जी समझती होंगी, शरबत पिलाकर छुटकारा हो गया। मगर मैं तो सायंकाल से पहले न टलूंगा। बुरी तरह नींद आ रही है।"

जमना—(हंसकर धीरे से) "यह कोई सराय समझी है? यहां मुफ़्त सोने की आज्ञा नहीं।"

चंद्र—"लो, सुन लिया तुम ने? यह घर है, सराय नहीं।"

द्वारका०—"चुप रहो जी, तुम बीच में बोलनेवाले कौन हो? देवर-भाभी का महायुद्ध है। (ऊंची आवाज़ से) हां भाभी! मैं मुफ़्त न रहूंगा, किराया दूंगा। मगर पहले तय कर लो, कहीं बाद में झगड़ा न हो जाए।"

चंद्र०—"चलो, हमें कोई पूछता ही नहीं।"

द्वारका०—"बोलो भाभी! क्या किराया देना होगा?"

जमना—(पति से) "इन से कहो, रात को रोटी यहीं खानी होगी।"

द्वारका०—"यह किराया बहुत ज़्यादा है, कम कीजिए।"

चंदू०—(स्त्री से) 'कहते हैं ज़्यादा है कम कीजिए। कुछ है गुंजाइश?"

जमना ने सिर के इशारे से कहा—"नहीं।"

द्वारका०—"ख़ैर मुझे स्वीकार है।"

चंदू०—"अगर ऐसे-ऐसे दो-चार सौदे रोज़ हो जाया करें तब तो मेरा दिवाला निकलने में देर नहीं।"

द्वारका०—क्या कहा आप ने? बर्फ़ में सर्द किए हुए आम, पुलाव और सरदा भी खाना होगा। चलो भाई! आज जो कुछ होना है, हो जाय। यह भी सही।"

चंदू०—"कान बजते हैं श्रीमान् जी के?"

द्वारका०—(जान बूझकर) "बालाई भी होगी? यह तो सरासर ज़्यादती है मेरे साथ। परन्तु जब ओखली में सिर दिया, तो मूसल का क्या डर।"

चंदूलाल और जमना, दोनों हंसने लगे। मगर द्वारकादास के मुंह पर हंसी न थी। थोड़ी देर के बाद छत की तरफ़ देखकर बोले—"पंखा तो बहुत बांका है; देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। क्या यहां कोई पंखा-कुली मिल जाएगा? अगर हो, तो बुला लो, नहीं नींद न आएगी।"

जमना ने मुसकरा कर कहा—"इस का किराया जुदा देना होगा।"

द्वारका०—"हमारी भाभी बड़ी सूम-स्वभाव है; ज़रा रू-रियायत नहीं करतीं। मुझे तो डर लगने लगा। मगर

इस के सिवा गुज़ारा न होगा। (चंदूलाल से) यार, कोई कुली बुलाओ।"

चंदू०—"होश करो। यहां कुली कहां?"

"सच कह रहे हो?"

चंदू०—(व्यंग्य से) "जी नहीं, झूठ बोल रहा हूं।"

द्वारका०—"तो नींद आ चुकी।"

इस समय द्वारकादास के मुंह पर परेशानी थी, आंखों में निराशा। चारों तरफ़ देखते थे कि कहीं हंसी तो नहीं कर रहे। शहर का रहने वाला गांव में आ फंसा था, और अपनी बेबसी पर सटपटाता था, जैसे पहाड़ का रहने वाला गर्म देश में आकर घबरा जाता है। उस समय उस के मन में कैसे-कैसे विचार आते हैं? अपनी जन्मभूमि और उस के सुंदर सुहावने दृश्य आंखों-तले फिर जाते हैं। यही दशा द्वारकादास की थी। उनको शहर याद आ गया, जहां आराम पैसों के वज़न बिकता है। इस समय वह रोज़ सोचा करते थे। क्या आज भी सोवेंगे? उन्हों ने ठंडी सांस भरी।

जमना ने अपने पति की ओर देख कर कहा—"संभव है, कोई आदमी मिल जाए। इन को तो नींद न आवेगी।"

चंदूलाल आदमी देखने बाहर चले; मगर कोई ऐसा आदमी न मिला। यह गांव था, शहर नहीं। गांव के लोग ग़रीब होते हैं, परन्तु लोभी नहीं। वे साधारण काम काज करने से नहीं घबराते, न उन को इस से संकोच ही होता है। मगर

पैसे ले कर टहल-सेवा करना वे मौत से भी बढ़ कर समझते हैं। वैसे हल चलाने को दिन-भर तैयार रहेंगे। लेकिन शहर का बच्चा-बच्चा लोभी है। वहां ऐसे आदमी पग-पग पर मिल जाएंगे। चंदूलाल ने बहुत ढूंढा: परन्तु उन्हें कोई कुली न मिला। मेहनती सभी थे, मज़दूर एक भी न था। निराश हो कर चंदूलाल वापस आए। जमना दरवाजे पर खड़ी थी। धीरे से बोली—"कोई आदमी मिला?"

"नहीं।"

"मुझे पहले आशा न थी।"

"बड़ी लज्जा की बात है। उन्हें नींद न आवेगी।"

"पर किया क्या जाए?"

"कहेंगे, एक दिन के लिए जा निकले थे, पंखे का भी प्रबंध न हो सका।"

"यहां किसान बसते हैं, मजदूर नहीं।"

"तो तुम्हीं किसी को पकड़ लाओ, मैं तुम्हें रोकता थोड़ा ही हूं।"

जमना ने कुछ देर सोचा। सहसा उसे एक रास्ता सूझ गया। मुसकरा कर बोली—"तो आप जाइए, मैं प्रबंध किए देती हूं।"

चंदूलाल कुछ न समझ सके, सिर झुका कर अंदर चले गए।

(३)

थोड़ी देर बाद पंखा चलने लगा। द्वारकादास ऐसे प्रसन्न हुए, जैसे किसी का रोग कट जाए। चंद्रलाल से हंस-हंस कर बातें करने लगे। चंद्रलाल सोचते थे, लाज रह गई। नहीं तो इन्हें मुंह दिखाने-लायक़ न रहता। वह मन-ही-मन जमना की प्रशंसा कर रहे थे—कैसी समझदार स्त्री है। कोई मूर्खा होती तो सीधे-मुंह बात न करती। कहती, तुम्हारा दोस्त आया है, तो मैं क्या करूं मुझ से बाहर नहीं निकला जाता। परंतु उस के चेहरे पर कैसा विषाद था, आंखों में कैसी उद्विग्नता थी। मालूम होता था, वह इसे अपना अपमान समझती है। मर्द मिलता न था, किसी स्त्री को पकड़ लाई होगी। यह स्त्री नहीं, देवी है।

द्वारकादास ने कहा—"कहो, अब यह आदमी कैसे मिल गया ?"

चंद्र०—"तुम्हारी भाभी ढूंढ लाई है। मैं तो हार कर वापस चला आया था।"

द्वारकादास—"तो मालूम हुआ, तुम निरे मिट्टी के लौंदे ही हो। जो काम तुम से न हो सका, वह उन्हों ने कर दिखाया।"

चंद्र०—"इस में क्या शक है। मैं आप हार मानता हूं।"

द्वारका०—"ऐसी ही देवियां होती हैं, जिन्हें लोग घर की लक्ष्मी कहते हैं।"

'चंद्र०—"यह न कहो तो रात का खाना कैसे मिले ?"

द्वारका०—"मगर वह आप किधर चली गईं।"

चंदू०—"इसी कोठरी में होंगी।"

द्वारकादास ने चारों तरफ़ देखा। हर चीज़ साफ़ थी, और अपने ठिकाने रक्खी थी। ये चीज़ें बहुत मूल्यवान् न थीं; परन्तु उन की सफ़ाई देख कर दिल ख़ुश हो जाता था। कहीं भी गर्दा, जाला या दाग़ दिखाई न देता था। फ़र्श, दीवारें, छत—सब ऐसे चमकते थे, जैसे शीशा। द्वारकादास सन्नाटे में आ गए। यह मकान न था, किसी योगी का दिल था। वही सादगी थी, वही पवित्रता। वही तपस्या थी, वही शांति। यहां दुनियादारों के ठाट-बाट न थे, योगियों का आत्म-संयम था, वही त्याग वही संतोष। यहां गैस-बिजली के लैम्प न जलते थे, परन्तु सच्चे प्रेम का प्रकाश चारों तरफ़ फैला हुआ था। द्वारकादास ने इन भाग्यवानों को मन-ही-मन नमस्कार किया। सो कर उठे, तो पांच बज चुके थे। मगर चंदूलाल अभी तक सोते थे। द्वारकादास बाहर निकले। वह चाहते थे कि चंदूलाल के जगने से पहले ही पंखा-क़ुली को मज़दूरी दे कर भेज दें। उन्हें भय था कि अगर चंदूलाल जग उठे, तो वह ये पैसे उन्हें कभी न देने देंगे। द्वारकादास को यह स्वीकार न था। चंदूलाल उन के मित्र थे। ऐसे खरे, प्रेमी, सरल-हृदय आदमी दुनिया में किसी ने कम देखे होंगे। वह अमीर न थे उन की आय बहुत थोड़ी थी; परन्तु आत्म-सम्मान की दौलत से वह मालामाल थे। लाला द्वारकादास

उन के इन दैवी गुणों पर लट्टू थे। सोचा, मैं ने उन के सामने पैसे दिए, तो बुरा मानेंगे। आश्चर्य्य नहीं, इसे अपना अपमान समझें। यह बात उन के लिए असह्य थी।

परन्तु बाहर आए, तो उन का दिल बैठ गया। जैसे किसी ने ऊंचे मकान से गिरा दिया हो। बाहर आंगन की खुली धूप में दो चारपाइयां खड़ी कर के जमना अपने हाथों से पंखा खींच रही थी। वह नीच ज़ात की औरत न थी, दिन-रात परिश्रम करने वाली जाटिनी न थी। उस ने ऐसा काम काज आज से पहले कभी न किया था। मगर आज ढाई घंटों से यह बराबर रस्सी खींच रही थी। कोमल हाथ थक गए थे, फिर भी खींच रही थी। सारी देह पसीने से भीग गई थी फिर भी खींच रही थी। ऐसी लगन से किसी भक्त ने अपने उपास्य-देव को भी कम रिझाया होगा, और यह परिश्रम, यह तपस्या केवल इस लिए थी कि उस के पति का मित्र आराम की नींद सो सके। उसे अपने पति का कितना ख़्याल है उस की मान मर्यादा की कितनी परवाह है! द्वारकादास की आंखों में आंसू आ गए। उन्हों ने पहले घर देखा था अब गृहणी के दर्शन किए। घर पवित्र था; परन्तु गृहणी की पवित्रता के सामने उस की पवित्रता कैसी थोड़ी कैसी तुच्छ थी! यह श्रद्धा, यह भावना, यह सरलता देख कर उन का दिल दहल गया। इस स्वार्थ-पूर्ण संसार में ऐसी देवियां भी हैं, उन्हें यह खयाल न था। उन के पैर रुक गए, जैसे किसी

ने उन में बेड़ियां डाल दी हों। ये बेड़ियां लोहे की या पीतल की न थीं। भक्ति और प्रेम की थीं। द्वारकादास आगे न बढ़ सके। उन्हें देख कर जमना का गौरव मिट्टी में मिल जाता। मनुष्य दुश्मन का सुदृढ़ गढ़ तोड़ सकता है, मगर अबोध बालक का मिट्टी का घरौंदा तोड़ने की शक्ति किस में है? द्वारकादास वापस चले आए।

देखकर मक्खी नहीं निगली जाती। द्वारकादास ने आते ही चंदूलाल को जगा दिया, और बातें करने लगे। अभिप्राय यह था कि जमना समझ जाय कि जग पड़े हैं। अब उन्हें जमना का पंखा खींचना एक क्षण के लिए भी सह्य न था।

जमना ने आवाज़ सुनी, पंखा छोड़ दिया, और अंदर चली आई। इस के बाद हाथ-मुंह धोकर सिर का दुपट्टा ठीक कर के उस कमरे में आ गई, जहां दोनों मित्र बैठ बातें कर रहे थे। इस समय जमना के मुख-मंडल पर स्वर्गीय आभा थी। मगर चंदूलाल और द्वारकादास की आंखें ऊपर न उठती थीं। वे अपनी दृष्टि में आप ही गिरे हुए थे, जैसे उन से कोई पाप हो गया हो। तीनों के दिलों में विचार अलग-अलग थे, मगर भाव एक ही। जैसे त्रिवेणी में तीन नदियां अलग-अलग रास्तों से आकर एक हो जाती हैं।

(४)

शाम को द्वारकादास चलने लगे, तो उन की आंखें सजल

हो गईं। वह अमीर आदमी थे। उन्होंने शानदार जलसे देखे थे। बढ़िया और स्वादिष्ट खाने खाए थे। मगर जो रस, जो स्वाद इस देहाती खाने में था, वह इस से पहले कभी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था। यह चटपटी चीज़ों का भोजन था, बनावट का नहीं। यह विशुद्ध और विलक्षण प्रेम का भोज था। लेमोनेड और लाइमजूस में गैस की तेज़ी ज़रूर है, मगर उन में संदल और क्योड़े की ठंडक कहां? उन में स्वाद है, मगर प्यास भड़क उठती है। इन में सादगी है परन्तु हृदय को शांति मिल जाती है।

चलते समय द्वारकादास ने कहा—"भाई! सच कहता हूं, आज का दिन मुझे कभी न भूलेगा। तांगे का टूटना शुभ हो गया, वर्ना यह खाना कभी न मिलता।"

चंद्०—"भीलनी के घर भगवान् आ गए थे। अब बेरों की प्रशंसा हो रही है।"

द्वारका०—"मुझे शर्मिन्दा न करो। जो लज़्ज़त इस खाने में थी, वह मां की रोटियों के बाद मुझे और कहीं नहीं मिली।"

चंद्०—(हंसकर) "स्त्री की रोटियों में भी नहीं?"

द्वारका०—"नहीं, वहां भी नहीं।"

चंद्०—"झूठ बोल रहे हो। तुम्हारी यह उक्ति कैसे मान लूं?"

द्वारका०—"प्यारी स्त्री का प्यार दुनिया में बहुत उच्च वस्तु है, परन्तु स्नेहमयी बहन की प्रीति उस से भी उच्च है।

वह अगर चाय है, तो यह मीठा दूध। चाय और दूध की तुलना किस ने की है?"

चंद्०—(व्यंग्य के भाव से) "तुम तो चाय के बिना रह न सकते थे। यह काया-पलट कब से?"

द्वारका०—' दूध देखा न था। आज आंखें खुल गईं।"

चंदू०—"परन्तु यह तुम्हारी भाभी है, बहन नहीं।"

द्वारका०—"मैं इन्हें अब भाभी न कहूंगा। भाभी का संसारी नाता है, बहन का नाता धर्म का है। यह पवित्रता, प्रेम, बलिदान का नाता है। मेरे दो भाई हैं, बहन कोई नहीं। मैं ने अपने इस दुर्भाग्य पर प्रायः घंटों आंसू बहाए हैं। आज इस गांव में आ कर मुझे बहन मिल गई। मिट्टी के टुकड़ों में हीरे की कनी छिपी होगी, यह ज्ञान न था। अब यह गांव मेरे लिए देहात नहीं, तीर्थ-राज है।"

चंदूलाल और जमना दोनों इस प्रेम-पूर्ण भाषण को इस तरह सुन रहे थे, जैसे कोई तत्त्व-वेत्ता उन के सामने किसी गूढ़ रहस्य का बखान कर रहा हो। दोनों के मुंह में ज़बान थी, परन्तु उन में वाणी न थी। दोनों चुपचाप खड़े सुन रहे थे, कि द्वारकादास ने आगे बढ़ कर जमना का घूं-घट उलट दिया; और कहा—"तुम्हें अब मुझ से परदा करने की आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हारा भाई हूं।"

चंदूलाल मुसकराने लगे; मगर जमना के चेहरे पर हंसी न थी। उस के चेहरे पर वे भाव थे, जो हर एक धार्मिक यज्ञ

के अवसर पर आर्य-ललनाओं के चेहरे पर प्रकट होते हैं। हम पुरुष लोग धर्म के साथ हंसी कर सकते हैं; परन्तु हमारी देवियां ऐसी पतित कभी नहीं हुईं। जमना ने बहन की आंखों से, जिन में अमर प्रेम का कभी समाप्त न होने वाला सोता फूट रहा था, अपने धर्म-भाई की तरफ़ देखा, और आंखों-ही-आंखों में कहा—भाई-बहन बनना आसान है; परन्तु इस धर्म-सूत्र का निभाना बड़ा कठिन है।

द्वारकादास ने इस मौन-संदेश का उत्तर न दिया, केवल गरदन ऊंची उठाई। जमना को उत्तर मिल गया। यह उत्तर कितना आशा-पूर्ण था, कितना प्रकाशमय। जमना का हृदय आनंद-सागर में हिलोरें मारने लगा। उस के भी कोई भाई न था। आज यह अभाव पूरा हो गया।

(५)

इस समय द्वारकादास ऐसे खुश थे, जैसे किसी ग़रीब को हीरा मिल जाए। उन के पांव भूमि पर न पड़ते थे। उन्हों ने एक सती-साध्वी का पावन-प्रेम जीत लिया था। चारों तरफ़ रात का अंधेरा छाया हुआ था; मगर उन की आंखों के सामने वही स्वर्गीय आभा थी—वही सुंदर झोंपड़ा, वही खुला आंगन, वही प्रेम-भरी मुस्कराहट और निःस्वार्थ सहानुभूति के रस में डूबी हुई मधुर बातें। ज्यों-ज्यों स्याल-कोट के पास पहुंचते जाते थे, उन का दिल उदास होता जाता था, जैसे जवान लड़का अपनी प्यारी मां से पहली बार

बिछुड़ा हो। यहां तक कि शहर के बिल्कुल पास पहुंच कर उन के पैर रुक गए; आंखों में आंसू आ गए। जमना किस तरह पंखा खींचती थी? कैसे वहनों के से आदर से? उस समय वह इस मर्त्य-लोक की रहने वाली नहीं स्वर्ग की देवी मालूम होती थी। मैं उस का कौन था? कोई भी नहीं। मेरा उस के साथ कोई संबंध-नाता-रिश्ता न था। परन्तु फिर भी उस ने मेरे दो घड़ी के आराम के लिए अपने कोमल हाथों से पूरे ढाई घंटे तक पंखा खींचा, और वह भी धूप में बैठ कर। यह स्वार्थ-रहित प्रेम का भार कब उतरेगा? किस तरह?

विचार-तरंग यहीं तक पहुंचने पाई थी कि उन का घर आ गया। परन्तु वह इन विचारों को नहीं छोड़ना चाहते थे, मानो यह घटना साधारण घटना न थी, ज्ञान और भक्ति से भरी हुई मनोरंजक कहानी थी।

रात को उन्हों ने खाना न खाया, तो तारा—पत्नी—ने पूछा—"क्या कुछ तकलीफ़ है?"

द्वारका०—"नहीं! मैं ज़रा मुरादपुर चला गया था; चंदूलाल ने खिला दिया।"

तारा—"आज कुछ उदास मालूम होते हो।"

द्वारका०—"आज तो मैं बहुत ही खुश हूं।"

तारा—"रुपया मिल गया होगा।"

द्वारका०—"आज जो वस्तु मिली है, वह रुपए से भी बढ़ कर है।"

तारा—"वह क्या ?"

द्वारका०—"समझ जाओ।"

तारा—"मुझ में यह बुद्धि कहां ?"

द्वारकादास तारा की प्रकृति से अपरिचित न थे। वह जानते थे कि तारा इस बात से कभी प्रसन्न न होगी। मगर वह चुप न रह सके। हम खुशी की बात छिपा कर नहीं रख सकते। दुःख काला पत्थर है जो पानी में पड़ कर आंखों से ओझल हो जाता है; परन्तु खुशी वह चमकदार शीशा है जो गहराई में भी चमकता है। इस जीवन-ज्योति को दिल के तहखाने में किस ने छिपाया है ? द्वारकादास ने सारी कथा तारा से कह डाली।

तारा ने यह कथा सुनी; मगर ठीक उसी तरह, जैसे कोई सूम-साहूकार किसी मेहमान का आना सुने, और झल्ला उठे। उस ने इस पर थोड़ी देर विचार किया, और तब धीरे से कहा—"चलो ! किसी दिन त्योहार पर, चार पैसे की चीज़ भेज देना। ग़रीब आदमी हैं खुश हो जाएंगे।"

द्वारका०—'तुम्हारा अनुमान ग़लत है। वे ग़रीब हैं, पर उन के दिल ग़रीब नहीं।"

तारा—"तो सारा घर उठा कर दे दीजिए। मैं अगर हाथ पकड़ूं, तो जो चोर की सज़ा वह मेरी।"

द्वारका०—"तुम कैसी वाहियात बातें करती हो ?"

तारा—"अभी गालियां मिलती हैं, वह महारानी दो-चार

बार यहां आ गई, तो धक्के मिलेंगे। मगर मैं उसे अपने मकान में पैर भी न रखने दूंगी।"

द्वारकादास का चेहरा लाल हो गया। तमक कर बोले—"वह यहां ज़रूर आवेगी, तुम को जो कुछ करना हो, कर लो।"

तारा—"तो यह क्यों नहीं कहते कि नई दुलहिन से मन मिला है! पर एक बात कहे देती हूं। मैं उन स्त्रियों में से नहीं हूं, जो अपना घर सामने लुटते हुए देखती हैं, और मन मार कर रह जाती हैं। मैं उस का पेट चीर दूंगी।"

क्या सोचा था, क्या हो गया! द्वारकादास स्वभाव से ही अत्यन्त सहनशील थे; परन्तु इस दोषारोपण से उन के जैसे आग लग गई। चन्दन भी रगड़ जाए, तो उस से आग निकलती है। गरज कर बोले—"ख़बरदार! संभल कर बोलो। यही शब्द दुबारा कहे, तो मुंह से जीभ खींच लूंगा।"

तारा को विश्वास हो गया कि पति-देव हाथ से गए। थोड़ी देर चित्रवत् बैठी रही, इस के बाद ठंडी सांस भर कर बोली—"मगर वह तुम्हारी कौन है, जिस के कारण घर में यह महाभारत शुरू कर रहे हो?"

द्वारका०—"वह मेरी बहन है।"

तारा—"मां-जाई तो नहीं।"

द्वारका०—"मगर मुंह-बोली तो है। उस का दर्जा मां-जाई से भी ऊंचा है। यह धर्म-सूत्र है, वह रक्त का बन्धन है। मैं

उस के लिए सब कुछ करने को तैयार हूं।"

तारा बैठी हुई थी, यह सुन कर खड़ी हो गई, और चिल्ला कर बोली—"तुम्हारी यह धौंस न चलेगी। मैं भी इसी दुनिया में पली हूं। मुझे तुम्हारा मन साफ़ नहीं मालूम होता।"

द्वारकादास के क्रोध पर इन शब्दों ने वही काम किया, जो ईंधन आग पर करता है। उन की आंखों से चिनगारियां निकलने लगीं। मगर उन्हों ने मुंह से कुछ न कहा। करवट बदली, और ऐसा प्रकट किया कि नींद आ गई है। क्रोध के बाद चुप्पी ज्ञान-सूचक, सजीव एवं सशब्द होती है।

अब तारा को अपनी भूल का ज्ञान हुआ। रह-रह कर दिल में पछता रही थी कि मेरे मुंह में आग लग जाए, मुफ़्त में कहां का झगड़ा खड़ा कर दिया! जीभ बस में रहती, तो बात यहां तक न बढ़ती। उस ने धीरे-धीरे आगे बढ़ कर द्वारकादास के शरीर पर हाथ फेर कर मधुर स्वर में कहा—"मुझ से बड़ी मूर्खता हो गई। अब माफ़ कर दो, फिर भूल न होगी।"

ये शब्द नहीं थे, शर्बत के घूंट थे। द्वारकादास का क्रोध जाता रहा। एकाएक इस शर्बत में कड़वापन आ गया, तारा के हृदय-वेधी शब्द याद आ गए। द्वारकादास ने तारा का हाथ परे हटा कर जवाब दिया—"मेरा मन खोटा है, मुझ से माफ़ी कैसी?"

तारा निराश हो कर उठ गई, और अपनी चारपाई पर

जा लेटी। मगर देर तक नींद न आई। द्वारकादास की भी यही दशा थी। दोनों अपने क्रोध पर लज्जित थे, दोनों चाहते थे कि मेल हो जाए। मगर अभिमान ने मुंह पकड़ लिया। इसी तरह रात बीत गई। दोनों उठे; परन्तु रोज़ की तरह प्रफुल्लित-हृदय नहीं, किंतु मुंह फुलाए हुए। आज द्वारकादास ने न तारा से तौलिया मांगा, न साबुन, न तेल। नौकर से कह कर ये सारी चीज़ें मंगवा लीं, और जल्दी जल्दी नहा लिया। यह देख कर तारा उदास हो गई। उस के लिए यह ऐसी सख़्त सज़ा थी, जिस के सामने वह मारपीट की भी परवा न करती। मगर उस ने मुंह से कुछ न कहा। चुपचाप बैठी एक पुस्तक के चित्र देखती रही। पर उस का मन इन चित्रों में न था। इतने में द्वारकादास ने कपड़े पहने, और छड़ी हाथ में ले कर दुकान को चले गए। तारा ने सोचा, दोपहर को आवेंगे, तब मना लूंगी। वह मेरे स्वामी हैं, कोई बेगाने नहीं। उन से संकोच कैसा? मगर द्वारकादास उस दिन घर नहीं आए। रोटी लाने के लिए नौकर को भेज दिया। तारा ने अपने रूठे पति को मनाने के लिए कई अच्छी-अच्छी चीज़ें पकाई थीं, कई बातें सोची थीं। परन्तु कोई काम न आई। तारा हताश हो गई—क्या अब मेल न होगा? लड़ाई सभी के यहां होती है; पर ऐसी नहीं कि दिल में मैल आ जाए। फिर भी उस ने सारी चीज़ें थाल में सजा कर रक्खीं, और सफ़ेद तौलिये से ढक कर भेज दीं।

यह थाल न था, सुलह का संदेश था। द्वारकादास सब कुछ समझ गए। परन्तु उन्हों ने केवल तीन चपातियां खाईं, और दाल-भाजी। इस के सिवा और किसी चीज़ को हाथ भी न लगाया। आम, मुरब्बा खरबूजा, अचार आदि सब उसी तरह पड़े रहे। तारा बड़े शौक से खाना खाने बैठी थी। थाल देख कर उस का दिल छोटा हो गया। उस ने खाना छोड़ दिया, और जा कर पलंग पर लेट गई। सुलह की प्रार्थना स्वीकार नहीं हुई।

इसी तरह पांच चार दिन बीत गए। दोनों अपनी-अपनी बात पर अड़े रहे, यहां तक कि चौथे दिन द्वारकादास को बुख़ार चढ़ गया। पता नहीं, गर्मी से या आंतरिक कष्ट से। मगर द्वारकादास को इस से हार्दिक प्रसन्नता हुई! जैसे यह बुख़ार बुख़ार नहीं था, उन के विजय की पूर्व-सूचना थी। सोचने लगे, अब देखता हूं, तारा कैसे तनी रहती है? कैसे मुंह फुलाए बैठी रहती है? सुनेगी, तो होश उड़ जाएंगे। दौड़ी हुई आएगी। सारा घमंड मिट्टी में मिल जाएगा। हाथ जोड़ेगी, मिन्नतें करेगी।

ऐसा ही हुआ भी। तारा घबरा गई। अब वह कैसे रूठी रहती? उस का पति बीमार है। उसे आन प्यारी थी, पर पति आन से भी प्यारा था। वह उड़ती हुई पति के पास आई, और उन की तरफ़ ताकने लगी। इस समय उस को ऐसा मालूम हुआ, जैसे द्वारकादास बहुत दुबले हो गए हैं।

ख़याल आया, यह मेरी ही करतूत है। वह उन की चारपाई पर बैठ गई, और उन के माथे पर हाथ फेरने लगी। इस के बाद उस ने उन का मुंह अपनी तरफ़ किया, और आंखों में आंसू भरकर कहा—"क्या अब यह क्रोध न उतरेगा? मेरी जीभ जल जाए! क्रोध में जो जी में आया, बक गई। अब बैठी पछता रही हूं।"

द्वारकादास यह सुनकर अपने को न संभाल सके। उन की आंखों में भी आंसू आ गए। उन्होंने तारा को गले लगा लिया, और रोने लगे।

(६)

ग़रीबों के यहां रोग बढ़ जाए, तो डाक्टर आता है। अमीरों के यहां रोग बढ़ जाए, तो सम्बन्धी आते हैं। यहां डाक्टर का आना साधारण बात है, वहां सम्बन्धी लोग सहज ही में जमा हो जाते हैं।

द्वारकादास बीमार हुए, तो डाक्टर दोनों वक्त आने लगा। मगर रोग कम न हुआ, उलटा बढ़ गया। यहां तक कि तीन दिन गुज़र गए, और बुख़ार न उतरा। द्वारकादास दिन-दिन भर बेहोश रहने लगे। तारा उनके पास बैठी रोया करती थी। इस रोने से उस के दिल का गुबार निकल जाता था। मगर इस गुबार और द्वारकादास के बुख़ार से कोई संबंध न था। उस पर कोई प्रभाव न पड़ा। इस के बाद रोग भयानक हो

गया। द्वारकादास बकने-झकने लगे। तारा के दिल में बुरे-बुरे विचार उठे। हम जिन्हें प्यार करते हैं, उन के बारे में हमें प्रायः भयंकर आशंकाएं ही सताती हैं। बेगानों के संबंध में ऐसे विचार हमारे मन में कभी नहीं आते।

कुछ दिनों के बाद रोग और भी बढ़ गया। अब द्वारकादास किसी को न पहचानते थे। बेहोशी में बड़बड़ाया करते कभी कहते,—जमना मेरी बहन है, ऐसी बहन दुनिया में किसी और की न होगी। मगर मेरी स्त्री को क्या कहा जाए, उसे कुछ और ही सन्देह है। कभी कहते, तारा, अब तो प्रसन्न होगी, जमना ने तेरे यहां आने से इनकार कर दिया है। कभी कहते, मैं जमना को न बुलाऊंगा, तारा अप्रसन्न हो जाएगी।

तारा यह बातें सुनती, तो उसके कलेजे में भाले चुभ जाते, आंखें सजल हो जातीं। सोचती, इस रोग का मूल-कारण मैं ही हूं। मुझे क्या मालूम था कि मेरी बातें इन के मन को लग जाएंगी। जानती, तो होंट सी लेती। अब उन बातों को कैसे लौटाऊं? वह ज़बान की कठोर थी; पर उस का दिल प्रेम से भरा था, जैसे मीठे और ठण्डे जल का सोता सख़्त पत्थरों के तले छिपकर बहता है।

दोपहर का समय था, तारा द्वारकादास के पास बैठी चिंतासागर में ग़ोते खा रही थी। इतने में द्वारकादास ने करवट बदली, और बोले—"तू कौन है?"

तारा का सिर चकराने लगा। क्या अब यहां तक नौबत

आ गई ! घबरा कर बोली —"मैं तारा हूं !"

द्वारकादास ने उस की तरफ़ देखा । मगर इस तरह, जैसे कोई पागल हवा की तरफ़ देखता है, और नहीं समझता कि मैंने क्या देखा। इस के बाद उन्होंने फिर करवट बदली; और सो गए।

जिस तरह कुदाल की चोट से चट्टान टुकड़े-टुकड़े हो जाती है, और पानी का फव्वारा बाहर आ जाता है, उसी तरह द्वारकादास की नैराश्य-उत्पादक दशा से तारा की कठोरता काफ़ूर हो गई, और प्यार का पानी बाहर आ गया। इस जल-धारा के सामने ईंट-पत्थर कब तक ठहर सकते हैं—कितनी देर ?

तारा ने उसी समय नौकर को बुलाकर कहा—"गाड़ी लेकर मुरादपुर जा। वहां इन के मित्र चंदूलाल रहते हैं । उन्हें और उन की स्त्री जमना को साथ ले आ। कहना, कई दिन से बेसुध पड़े हैं, और बहन-बहन पुकार रहे हैं। जब तक तुम न आओगे, अच्छे न होंगे।"

तीन ही मील की दूरी थी । आने-जाने में देर न लगी । चार बजते-बजते चंदूलाल और जमना, दोनों द्वारकादास के यहां आ पहुंचे। तारा ने उन को देखा, तो उस की जान में-जान आ गई। उसे विश्वास हो गया कि अब इन के स्वस्थ होने में देर नहीं। एक-आध दिन में उठ खड़े होंगे।

जमना देहाती रमणी थी। उस की शक्ल सूरत तारा को

पसंद न आई। मगर उस ने इस की परवा न की। उस के गले लग कर बोली—"देखो तो, क्या हाल हो गया है? दिन-रात तुम्हें बुलाते रहते हैं।"

जमना—"तुम ने पहले ख़बर क्यों नहीं दी? अचरज की बात है! भाई इतना बीमार हो, और बहन को ख़बर तक न भेजी जाए!"

तारा—"मैं ने सोचा था, मुफ़्त में कष्ट क्यों दूं।"

जमना—"मालूम होता है, तुम अभी तक मुझे पराया ही समझती हो?"

तारा—"पराया कैसे समझ सकती हूं? उन की बहन को पराया समझूंगी, तो रहूंगी कहां?"

जमना—"शहर की रहने वालीं बातें करना खूब जानती हैं। मैं अनपढ़ देहातिन तुम से पार न पा सकूंगी।"

तारा—"कुछ दिन ठहर जाओ, तुम्हें भी बातें आ जाएंगी। मगर पहले अपने भाई को चारपाई से उठा लो।"

जमना—"मैं पापिन कौन हूं, परमात्मा उठावेगा।"

यह कहते-कहते जमना की आंखों में आंसू आ गए। इस समय तक चंदूलाल द्वारकादास को झुके हुए देख रहे थे। वह जमना से बोले—"इन्हें कहो, हमें दवा देने का समय आदि समझा दें, और जा कर आराम करें। अब हम आ गए हैं, इन्हें कष्ट न होगा। मालूम होता है, कई रातों से जाग रही हैं। कहीं स्वयं भी बीमार न हो जाएं।"

तारा ने उन को सब कुछ समझा दिया, और स्वयं उन के खाने-पीने का प्रबंध करने चली। इस समय वह ऐसी खुश थी, जैसे किसी को डूबा हुआ धन मिल गया हो। अब उसे कोई आशंका, कोई चिंता न थी, मानो जमना क्या आई, कोई सिविल-सरजन आ गया। मगर द्वारकादास का रोग साधारण न था, तीन महीने चारपाई से नहीं उठे।

इस बीच में जमना ने जिस प्यार, परिश्रम, और आत्मसमर्पण का परिचय दिया, उसे देख कर तारा दंग रह गई। उसे खाने-पीने की सुध न थी, विश्राम की इच्छा न थी। कुरसी पर बैठी-बैठी ऊंघ लेती; कहती, सो गई, तो दवा देने का समय निकल जाएगा। ऐसी सावधानी से किसी मां ने अपने पुत्र का भी इलाज न किया होगा। तारा का सब सन्देह निर्मूल सिद्ध हुआ। संसारी जीवों की पापमयी वासना में यह स्थिरता, यह भावना, यह श्रद्धा कहां? वह खोटे सोने के समान चमकती तो बहुत है, परन्तु परीक्षा की आग में पड़ कर यह चमक स्थिर नहीं रहती। तारा की कूटनीति ने जिसे पीतल समझा था, वह खरा सोना निकला। तारा ने शान्ति की सांस ली।

(७)

द्वारकादास स्वस्थ हो गए। तारा, जमना, और चन्दूलाल ऐसे खुश थे, जैसे विद्यार्थी परीक्षा में पास होकर खुश होता है। उन की चेष्टाएं सफल हो गईं थीं। उन्होंने मरता हुआ रोगी

बचा लिया था। अब उन के होंटों पर हंसी थी, आंखों में ज्योति। चारों तरफ़ चहकते फिरते थे, जैसे पक्षी फलों की डालियों पर चहकते हैं। अब यह घर किसी रोगी का कमरा न था, जहां ऊंची आवाज़ से बोलना बुरा समझा जाय, वरन् ब्याह वाला घर था, जहां आठों पहर चहल-पहल रहती है। सब द्वारकादास की चारपाई के गिर्द कुरसियां डालकर बैठ जाते. और ताश उड़ाते। पहले तारा चन्दूलाल को देखती, तो दौड़ कर छिप जाती थी, मगर अब वह परदा न रहा। और जमुना ने तो उस के दिल में घर ही कर लिया था। वह छाया के समान उस के साथ रहती और कहती, तू चली जायगी, तो मैं क्या करूंगी? जमना उत्तर देती, अपने बलमू से प्यार करेगी और क्या करेगी? इस के जवाब में तारा का मुंह बन्द हो जाता। इसी तरह कुछ दिन और बीत गए। अब द्वारकादास चलने-फिरने के योग्य थे। शरीर में बल आ गया, चेहरे पर लाली। चन्दूलाल और जमना चलने की तैयारियां करने लगे। तारा ने यह सुना, तो घबरा गई। जमना के गुणों ने उस का मन मुग्ध कर लिया था। रात को वह पति से बोली—"जमना जाने को कहती है।"

द्वारका०—"ठीक कहती है। तीन महीने हो गए; अब कब तक बैठे रहें? छुट्टी दे दो।"

तारा—"पर मेरा दिल कैसे मानेगा?"

द्वारका०—"उसे मैं मना लूंगा।"

तारा लजा गई; बोली—" आप तो छेड़ते हैं।"

द्वारका०—" नहीं तारा ! मैं हंसी नहीं करता। तुम आप ही सोचो, पराए घर में कब तक बैठे रहें।"

तारा—" यह घर उन का अपना है, पराया नहीं। मैं जमना को अपनी ननद समझती हूं।"

द्वारकादास के रोम-रोम में ख़ुशी की लहर दौड़ गई। साहस से बोले—" बहनों को भी अपनी ससुराल जाना ही पड़ता है। अपने घर में राजकुमारियां भी नहीं रहतीं।"

तारा - " ससुराल भेजना चाहते हो तो फिर उसी ढंग से भेजो।"

द्वारकादास चौंक पड़े। थोड़ी देर बाद बोले—" तारा ! तुम्हारा मतलब क्या है ?"

तारा - " इस समय सस्ते न छूटोगे। तुम ने उसे बहन बनाया है। वह तुम्हारे यहां पहली बार आई है। यों समझो कि उस का गौना है। चार पैसे दिए बिना भेज दोगे, तो वह अपने मन में क्या कहेगी ?"

द्वारकादास को ऐसा मालूम हुआ, जैसे आंखों से परदा हट गया हो। उन्हें आज पहली बार ज्ञान हुआ कि उन्होंने तारा को पहचानने में कैसी भूल की थी। उन का ख़्याल था कि तारा संकुचित-हृदय, भाव-रहित, सूम एवं प्रेम-विहीना स्त्री है। मगर आज वही स्त्री कैसी विशाल-हृदया, स्नेहमयी, और साहसवती प्रतीत होती थी। उस के एक-एक शब्द में प्रेम की

सुगन्ध थी, उसे आन की परवा थी, पैसे की परवा न थी। पर द्वारकादास अधीर नहीं हो गए, न उन्होंने अपने हार्दिक भावों को प्रकट किया। धीरे से बोले—'बहुत ख़र्च करना पड़ेगा!"

तारा—"परन्तु इस के बिना काम भी नहीं चलेगा।"

द्वारका०—"जानती हो, आज कल कार-बार का हाल भी सन्तोष-जनक नहीं है।"

तारा—'रोटी तो खाते हैं।"

द्वारका०—"चुप हो रहें, तो कैसा हो?"

तारा—"नाक कट जाएगी। गांव भर में सब जानते हैं कि जमना अपने भाई के यहां आई है। जब ख़ाली हाथ देखेंगे तो क्या कहेंगे? यही कि बस, इसी हौसले पर भाई बने थे? इन वाग्बाणों से जमना के दिल पर क्या गुज़रेगी? सुनकर रोने लगेगी।"

द्वारकादास जाल बिछाते जाते थे और तारा भोले कबूतर के समान उस में फंसती जाती थी। उन्होंने किसी असहाय की तरह सिर हिलाया, और कहा—"तारा! बुरे फंसे।"

तारा—"अब तो कुछ करना ही पड़ेगा।"

द्वारका०—"तुम्हारी सम्मति में कुछ देना चाहिए: चालीस-पचास रुपए दे दें?"

तारा—"ज़रा अपनी हैसियत देख लो। लोग कहेंगे, नाम बड़ा और दर्शन छोटे।"

द्वारका०—"तोबा! अब न बोलूंगा। तुम जो चाहो, दे दो। केवल मैं ही भाई नहीं हूं, तुम भी भाभी हो।"

यह सुन कर तारा को ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने राजसिंहासन पर चढ़ा दिया हो। कुछ सोचकर बोली—"कम-से-कम दो-तीन आभूषण होंगे। ढाई-तीन सौ रुपए के।"

द्वारका०—"और ?"

तारा—"सात जोड़े रेशमी, इक्कीस जोड़े सूती।"

द्वारका०—"राम-राम !"

तारा—"कुछ बर्तन भी होंगे।"

द्वारका०—"तुम मेरा दिवाला निकलवा दोगी ?"

तारा—"चंदूलाल के कपड़े अलग रहे। वह आप बनवा दें, मैं उस में दख़ल न दूंगी।"

द्वारका०—"तो कुछ दिन और रोक लो; यह सब कुछ एक-आध दिन में तैयार न होगा।"

तारा—"इस की चिंता न करें। जमना की इतनी मजाल नहीं कि मुझ से बिना पूछे चली जाए।"

एक सप्ताह और बीत गया।

आज चंदूलाल और जमना के चलने का दिन है। सब की आंखों में वियोग के आंसू भरे हुए हैं। जमना तो फूट-फूट कर रो रही है, जैसे लड़की ब्याह के बाद सुसराल को जाते समय रोती है।

चंदूलाल कभी उन चीज़ों को देखते, कभी द्वारकादास

को। वह हैरान हो रहे थे। पड़ोसी कहते, द्वारकादास को शाबाश है। कलजुग में लोग इतना अपनी सगी बहनों को भी नहीं देते।

इतने में तांगा दरवाज़े पर आ गया। जमना तारा के गले से लिपट कर रोने लगी। इस रोने में कितनी वेदना थी, कितनी व्यथा, इसे कोई बहन ही समझ सकती है। तारा के दिल में भाव-सागर उमड़ा हुआ था। वह सोचती—यह वही स्त्री है, जिस ने मेरे स्वामी की सेवा की है, उन को मौत के मुंह से खींचा है; जिसे मेरा पति अपनी बहन समझता है, चाहता है, प्यार करता है। आज वह बिछुड़ रही है।

जमना की निष्काम सेवा ने पहले द्वारकादास को वशीभूत किया था, अब तारा भी उस का दम भरने लगी। यह सब प्रेम का चमत्कार है, इसी स्वर्गीय शक्ति का जादू है। इस में पड़कर राक्षस भी देवता बन जाते हैं। तारा तो फिर भी संसारी स्त्री थी।

तारा से मिलकर जमना द्वारकादास के गले मिली, और फिर फूट-फूटकर रोई। द्वारकादास भी रो रहे थे। आख़िर उन्होंने बड़े आग्रह से चुप कराया, और कहा—"तो, अब गाड़ी में बैठ जाओ। विलंब हो रहा है।"

जमना ने दुपट्टे के आंचल से आंसू पोंछते हुए कहा—"मगर यह तुम ने बहुत तकलीफ़ की। इस की कोई ज़रूरत न थी।"

द्वारका०-"परमात्मा करे, हम सदा इसी तरह करते रहें।"

जमना—"देखो भाई ! मैं तुम से मन की बात कहती हूं। मैं पैसे की नहीं, प्यार की भूखी हूं। मुझे पैसा दो या न दो, मगर कभी-कभी मिलते रहना। यह तुम्हारी बहन का अनुरोध है।"

द्वारका०—"जो अपनी बहन को भूल जाए, उस का कहां भला होगा ?"

जमना—"पर यह ऋण तो मुझ से न उतरेगा।"

द्वारका०—"यह ऋण नहीं, मेरे धर्म-सूत्र की पूर्ति है। तुम्हारी सेवा-सत्कार का बदला देना मेरी शक्ति के बाहर है।"

तारा ने मुस्करा कर कहा—"जंगल की मैना को शहर का पानी लग गया: अब भी न बोले !"

जमना ने हंसकर तारा की तरफ़ देखा, मगर प्रेम के इस सुखद कटाक्ष का जवाब न दिया। द्वारकादास को लक्ष्य कर के बोली—"जिस ने अपने बीमार भाई की सेवा न की, वह बहन कहाने के योग्य नहीं।"

द्वारका०—"मुरादपुर का खाना कभी न भूलेगा।"

जमना—"क्या बातें करते हो, वह तो विदुर का शाक था।"

द्वारका०—"और वह पंखा ?"

जमना चौंक पड़ी। उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई गुप्त रहस्य प्रकट हो गया हो। प्रकाश-पूर्ण लज्जा ने चेहरा लाल

कर दिया। उस ने केवल 'अरे' कहा, और इस से अधिक कुछ न कह सकी। द्वारकादास और तारा, दोनों हंसने लगे।

जमना ने तारा से कहा—"तुम ने मुझे बड़ा धोका दिया। इस बात का एक बार भी ज़िक्र नहीं किया। किया होता, तो मैं सावधान हो जाती।"

तारा—"मुझे तुम्हारे भाई ने मना कर दिया था। मैं समझती न थी। इस में छिपाने की क्या बात है? मगर इस समय मज़ा आ गया, वर्ना तुम्हारा मुंह बंद न होता।"

तांगा चलने लगा।

परिवर्तन

(१)

किसी नगर में एक बेपरवा, अभिमानी नवयुवक रहता था।

उस का नाम सईद था।

वह बड़ा ही सुंदर था—उस का रंग गोरा था, चेहरा-मोहरा भी अच्छा था और आंखों में मोहनी थी।

परन्तु वह मूर्ख था।

(२)

जब वह बाज़ार जाता था, तो रास्ते में एक बूढ़े फ़क़ीर को देख कर हंसा करता था।

उस की कमर झुक गई थी, उस के सिर के और डाढ़ी के और मूंछों के बाल सफ़ेद हो चुके थे, और आंखों में यौवन की चमक के स्थान में बुढ़ापे की उदासीनता थी।

वह बूढ़ा था।

और सईद उसे देख कर हंसा करता था।

(३)

एक दिन सईद ने स्वप्न में देखा कि वह बूढ़ा हो गया है और उस की कमर झुक गई है। उस के सिर के और डाढ़ी के और मूंछों के बाल सफ़ेद हो चुके हैं, और आंखों में यौवन की ज्योति के स्थान में बुढ़ापे की उदासीनता आ गई है।

जब वह जागा तो अपने स्वप्न पर देर तक हंसता रहा।

परन्तु बाज़ार जाते समय सहसा उस ने बूढ़े फ़क़ीर के निस्तेज मुख के दर्पण में अपनी जवानी की छाया देखी और उसे पहचानने में देर न लगी।

और सईद वहां रुक गया और उस फ़क़ीर को देख कर उस के होठों की हंसी होठों पर मर गई।

(४)

किसी नगर में एक युवक रहता है।

उस का नाम सईद है।

वह बड़ा ही सुंदर है। उस का रङ्ग गोरा है। चेहरा-मोहरा भी अच्छा है, और आंखों में मोहनी है।

परन्तु अब वह मूर्ख नहीं रहा, न वह किसी बूढ़े को देख कर हंसता है।

अमर जीवन

(१)

बाबू इन्द्रनाथ की लेखनी में जादू था। जब लिखने बैठते, साहित्य-सुधा की धाराएं बह निकलतीं; जैसे पहाड़ों से मीठे जल की नदियां फूट निकलती हैं। उन की आयु अधिक न थी। ज़्यादा से ज़्यादा पचीस साल के होंगे। मगर उन की कविता और कल्पना देख कर जी ख़ुश हो जाता था। साधारण से साधारण विषय भी लेते तो उस में जान डाल देते। उन के निबन्ध पढ़ कर लोग मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे। कहते—"मन मोह लेता है। उन की उपमाएं कैसी सुंदर हैं, शब्द कैसे मधुर हैं, पाठक किसी दिव्य-लोक में पहुंच जाते हैं। यही जी चाहता है, पढ़ते ही रहें, कभी बस न करें।" उन की रचना में मनोरञ्जन, सौन्दर्य, मोहनी, सब कुछ था, और सब से बढ़ कर सादगी थी। वे अपने पाठकों पर बड़े बड़े कठिन शब्दों से रोब न डालते थे। यह ढङ्ग उन्हें कभी पसंद न आता था। उन्हें जो कुछ कहना होता, सादे और सरल शब्दों में कह देते,

और यही उन का सब से बड़ा गुण था। एक वर्ष पहले लोग उन के नाम से भी परिचित न थे, और आज हिन्दी साहित्य के कोने कोने में उन के नाम का डङ्का बजता है। कोई छोटे से छोटा भी ग्राम ऐसा न होगा जिस में 'भाव-सुषमा' और 'सोम-सागर' की एक-दो प्रतियां न हों। इन ग्रन्थ-रत्नों को जो पढ़ता, उसी पर जादू हो जाता था।

परन्तु इन्द्रनाथ की आर्थिक दशा सन्तोष जनक न थी। इतनी सिर-पच्ची करने के बाद भी उन को इतनी आय न होती थी कि चिन्ता-रहित जीवन बिता सकते। प्रायः दुखी रहते, और अपने देश की शोचनीय अवस्था पर रोया करते। किसे ख़्याल था कि उन के प्रान्त का सब से बड़ा लेखक, सब से प्यारा कवि-राज पैसे पैसे को मुहताज होगा। उन का प्रकाशक कमाता था, वे भूखों मरते थे। संसार का यह दुर्व्यवहार देख कर उन का दिल खट्टा हो जाता, और कभी कभी तो इतने जोश में आ जाते कि लिखे-लिखाए लेख फाड़ डालते, लेखनी तोड़ देते, और कहते—"अब लिखने का कभी नाम भी न लूंगा।"

(२)

प्रातःकाल था। इन्द्रनाथ धूप में बैठे एक मासिक पत्रिका के पन्ने उलटते हुए मुस्करा रहे थे। उन की स्त्री मनोरमा ने पूछा—"क्यों? क्या है, जो इतने खुश हो रहे हो?"

इन्द्रनाथ ने मनोरमा की तरफ़ प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखा और उत्तर दिया—"भाव-सुषमा की समालोचना है। बहुत प्रशंसा की है।"

मनोरमा के मन में उद्गार की गुदगुदी होने लगी। ज़रा आगे खिसक कर बोली—"प्रशंसा करते हैं समझते ख़ाक भी नहीं।"

इन्द्रनाथ—"अरे!"

मनोरमा—"झूठ नहीं है। यहां के लोग मूर्ख हैं, तुम्हारी क़दर क्या जानें। भैंस के आगे वीणा बज रही है।"

इन्द्रनाथ—'मेरी रचना के गुण-दोष समझने वाले वास्तव में थोड़े हैं। सारे शहर में केवल एक व्यक्ति है, जिसे इन बारीकियों का ज्ञान है।"

मनोरमा—"कौन?"

इन्द्रनाथ—"तुम्हें डाह तो न होगा। वह एक स्त्री है, पर ऐसी योग्यता मैं ने किसी पुरुष में भी नहीं देखी।"

मनोरमा को कुछ सन्देह हुआ। धीरे से बोली—"कौन है?"

इन्द्रनाथ—"श्रीमती मनोरमा देवी रानी। तुम ने भी नाम तो सुना होगा।"

मनोरमा ने हंस कर मुंह फेर लिया और बोली—"जाओ, तुम तो हंसी करते हो।"

इन्द्रनाथ—"नहीं मनोरमा! वास्तव में मेरी यही सम्मति है।

मनोरमा—"बस, कोई बनाना तुम से सीख जाए।"

इन्द्रनाथ—'मेरी हिम्मत तुम न बढ़ाती तो मैं इतनी उन्नति कभी न करता।"

मनोरमा—"बड़ी पण्डिता हूं न।"

इन्द्रनाथ—"यह मेरे दिल से पूछो। सोना अपना मूल्य नहीं जानता।"

मनोरमा—"मगर तुम खुशामद करना खूब जानते हो।"

इन्द्रनाथ—'समालोचना सुनोगी?"

मनोरमा—"सुनाओ"।

इन्द्रनाथ ने पढ़ना आरम्भ किया—

"भाव सुषमा हमारे सामने है। हम ने इसे पढ़ा, और कई दिन तक मन पर नशा सा छाया रहा। ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम किसी दिव्य-लोक में आ पहुंचे हैं। इस में सौन्दर्य है, इस में सादगी है। इस में स्वाभाविकता है, इस में कल्पना है। इस में माधुरी है, इस में सरलता है। और क्या कहें—इस में सब कुछ है।"

सहसा किसी ने नीचे से आवाज़ दी—"बाबू इन्द्रनाथ!"

इन्द्रनाथ और मनोरमा दोनों चौंक पड़े, जैसे किसी सुमधुर सङ्गीत के बीच में कोई ऊंची आवाज़ से रोने लग जाए। उस समय रागी के दिल पर क्या गुज़रती है, यह वही समझता है। वह झुंझला उठता है, मरने-मारने को तैयार हो जाता है।

बाबू इन्द्रनाथ ने पत्रिका चारपाई पर रख दी, और नीचे

गए। वापस आए, तो चेहरा उदास था, और आंखों में आंसू लहरा रहे थे।

मनोरमा ने पूछा—"कौन था?"

इन्द्रनाथ—"मकान-मालिक था।"

मनोरमा का मुंह पीला हो गया। दुःखी होकर बोली—"क्या कहता था, यह तो बुरा पीछे पड़ा है। चार दिन भी सब्र नहीं करता।"

इन्द्रनाथ—"कहता है, अब तो नालिश ही करनी पड़ेगी।"

मनोरमा—"कितना किराया है? तीन महीने का?"

जब हमारे पास रुपया नहीं होता तब हम हिसाब नहीं करते। हिसाब करते हुए हमें डर लगता है। इन्द्रनाथ ने मनोरमा की बात को अनसुना कर दिया और कहा—"जी चाहता है, कोई नौकरी कर लूं। अब यह रोज़ रोज़ का अपमान नहीं सहा जाता। प्रशंसा करने को सभी हैं, सहायता करने को कोई भी नहीं। और ख़ाली प्रशंसा से किसी का पेट कब भरा है?"

मनोरमा ने अपने पति की ओर देखा और कहा—"कर देखो! मगर तुम्हारा यह लिखने का चसका तो न छूटेगा। यह भी दूसरी शराब है।"

इन्द्रनाथ—"हुआ करे, छोड़ दूंगा। तुम ने मुझे अभी समझा ही नहीं।"

मनोरमा—"खूब समझती हूं। दफ़्तर में काम कर सकोगे?'

इन्द्रनाथ—"पैसे मिलेंगे तब क्यों न करूंगा।"

मनोरमा—"अफ़सरों की झिड़कियां सह सकोगे?"

इन्द्रनाथ—"मकान-मालिक के तगादों से तो जान बचेगी।"

मनोरमा—"यदि किसी ने कह दिया—"अरे! ये तो वही कवि-राज हैं जो साहित्य-क्षेत्र में इतना प्रसिद्ध हैं। हम ने, समझा था, कोई बड़ा आदमी होगा, यह तो साधारण मुंशी निकला। "तब?"

इन्द्रनाथ—'मैं समझूंगा, किसी दूसरे को कहते हैं। अब और क्या करूं? प्रकाशकों ने तो मेरे परिश्रम पर डाका मारने का निश्चय कर लिया है। कहते हैं, जब कोई ज़्यादा न देगा तब झख मारकर हमारी शर्तें स्वीकार करेगा। वे रुपयावाले हैं, रुपये का मूल्य समझते हैं, कला का मूल्य नहीं समझते। ऐसे स्वार्थी मुझे क्या दे सकेंगे। योरप में होता तो सोने का महल खड़ा कर लिया होता। यहां अपने भाग्य को रो रहे हैं।"

मनोरमा—"तुम अपना दिल छोटा न करो। सब ठीक हो जाएगा।"

इन्द्रनाथ—"तो आज जाऊं, लाला रंगीलाल से मिल आऊं। मेरा दिल कहता है, काम बन जाएगा। बड़े सज्जन हैं।"

मनोरमा—"ज़रा तारीफ़ कर देना। बड़े आदमी दो बातों से ही खुश हो जाते हैं।"

इन्द्रनाथ—"मुझे इस तरह पढ़ाने की ज़रूरत नहीं।"

मनोरमा—"यह काम हो जाए, तो समझें, गङ्गा नहा लिया।"

इन्द्रनाथ—"उन का तो बहुत अधिकार है, चाहें तो आज ही नौकरी दे दें। उठो: कपड़े बदलवा दो। बहुत मैले हो गए हैं।

मनोरमा ने उठकर सन्दूक़ खोला, और कपड़े देखने लगी, परन्तु कपड़े धुलकर नहीं आए थे। मनोरमा के हृदय पर दूसरा आघात लगा। उस का मुंह हार्दिक वेदना से पीला पड़ गया। यह वही प्रसन्न-वदना वही प्रफुल्ल-हृदया मनोरमा थी, जिस के क़हक़हों से सारा मुहल्ला गूंजता रहता था, पर इस समय वह कितनी अशान्त, कैसी उदास थी। पंछी कभी फूल की डालियों पर बैठकर किलोलें करता है, कभी पंख समेट कर चुप-चाप अपने घोंसले में बैठ जाता है।

इन्द्रनाथ ने ठंडी आह भरी, और कहा—'मनोरमा! अब नहीं सहा जाता।"

यह वही प्रतिभा-सम्पन्न, सुप्रसिद्ध लेखक है, जिस की कविता देश के कोने कोने में आदर-सम्मान से पढ़ी जाती है, जिस की लेखनी की रचनाएं पत्थर-दिलों को भी मोह लेती हैं, जिस की शब्द-रचना को लोग तरसते हैं, जिस का नाम सुन कर लोग श्रद्धा भाव से गरदन झुका देते हैं, जिस के ग्रन्थ दुष्टात्माओं के लिए धर्म उपदेशों से कम नहीं। आज वही पचास रुपये की नौकरी करने चला है। काव्य, कल्पना और कला की नगरी का राजा भीख मांगने निकला है।

मनोरमा ने अपने पति की यह हीन-दशा देखी, तो आह

मार कर भूमि पर बैठ गई। इस समय उस के हृदय में एक ही विचार था—यह सिर किसी के सामने कैसे झुकेगा ?

(३)

एक घंटे के बाद इन्द्रनाथ पे-आफ़िस के सुपरिंटेंडेंट लाला रङ्गीलाल के दफ्तर में थे। लाला रङ्गीलाल एक पुस्तक पढ़ रहे थे। उन्हों ने बहुत तपाक के साथ उठ कर इन्द्रनाथ से हाथ मिलाया, और माफ़ी मांगते हुए कहा— मुझे केवल पांच मिनट की आज्ञा दीजिए।"

यह कह कर लाला रङ्गीलाल ने सामने पड़ी हुई कुरसी की तरफ़ इशारा किया, और अपनी पुस्तक पढ़ने में लीन हो गए। इन्द्रनाथ को यह व्यवहार अत्यन्त लज्जा-जनक मालूम हुआ। उन को ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने खुल्लम-खुल्ला निरादर कर दिया हो। उन का चेहरा तमतमा उठा। ख़्याल आया, कैसा असभ्य है। इसे अपने समय का ख़्याल है, हमारे समय की परवा नहीं। और यदि अभी से यह दशा है तो नौकर हो जाने के बाद तो शायद द्वार पर प्रतीक्षा करनी होगी।

इन्द्रनाथ ने उठने का सङ्कल्प किया, मगर एकाएक मकान-मालिक की अग्नि-मूर्ति याद आ गई। क्या फिर वही आंखें देखूंगा ? क्या फिर वही धौंस सुनूंगा ? इन्द्रनाथ चुप-चाप बैठ गए, जैसे हवा में उड़ते हुए काग़ज़ों पर कोई लोहे

का टुकड़ा धर दे। इन काग़ज़ों के टुकड़ों की लोहे के सम्मुख क्या शक्ति है ! आत्मा को प्रकृति ने दबा लिया। यह प्रतीक्षा का समय इन्द्रनाथ के लिए आत्मिक यन्त्रणा का समय था। और जब लाला रङ्गीलाल ने पुस्तक समाप्त कर ली तब इन्द्रनाथ को ऐसा मालूम हुआ, जैसे कमरे में हवा का अभाव है, और उन का दम घुटा जा रहा है। मगर रङ्गीलाल अपनी पढ़ी हुई पुस्तक के ध्यान में तन्मय थे। थोड़ी देर तक वे योग की सी अवस्था में आंखें बन्द किए पड़े रहे फिर बड़बड़ाने लगे—"वाह वाह ! क्या कहना !! कितने ऊंचे विचार हैं, कैसे पवित्र भाव !!!"

इन्द्रनाथ उन की ओर आंखें फाड़ कर देखने लगे कि यह कहते क्या हैं? रङ्गीलाल ने मेज़ पर झुक कर कहा—"फ़रमाइए जनाब ! क्या हुक्म है ?"

इतने में कमरे का द्वार खुला, बड़े साहब हाथ में टोप लिए हुए अन्दर आए। लाला रङ्गीलाल खड़े हो गए।

"गुड मार्निंग !"

"गुड मार्निंग ! यह किताब कैसा है ?"

रङ्गीलाल—"बहुत बढ़िया।"

साहब ने पुस्तक हाथ में ले कर दूसरे हाथ से उस के पन्ने उलटते हुए कहा–"टो आप को बहोट अचा मालूम हुआ।"

रङ्गीलाल—"अच्छा का सवाल नहीं, मैं ने ऐसी पुस्तक हिन्दी में आज तक नहीं देखी।"

साहब—"इटना अचा है !"

रंगीलाल—"पढ़ने पर मज़ा मिल गया।"

साहब—"इंग्लिश में किस किताब के माफ़िक है ?"

रङ्गीलाल-"यह मैं नहीं जानता, पर पुस्तक बहुत अच्छी है।"

साहब—"ड्रामा है क्या ?"

रङ्गीलाल—"नहीं साहब। 'पोयट्री' है।"

साहब—हिन्दी का प्रोयट्री क्या होगा ! 'रब्बिश' होगा।

रङ्गीलाल—"यदि आप पढ़ सकते तो ऐसा कभी न कहते।"

सहसा इन्द्रनाथ की दृष्टि पुस्तक के कवर की तरफ़ गई, तो वे चौंक पड़े। यह पुस्तक 'भाव-सुषमा' थी। उन का मन-मयूर नाचने लगा। उन का दिल गुलाब के फूल के समान खिल गया। वे अब इस दुनियां में न थे। किसी और दुनिया में थे। उन्हें अब इस तुच्छ, निकृष्ट, नश्वर दुनिया की मोहनी माया—दौलत की परवा न थी। सोचते थे, दौलत क्या है ? आती है, चली जाती है। यह उड़ती-फिरती चिड़िया है, जिसे पिंजरे में बन्द रखना असम्भव है। मेरे पास धन नहीं, धन-वान् तो हैं। इस आदमी के दिल में मेरा कितना मान है, कैसी भक्ति-भावना है ? पुस्तक की ओर इस तरह देखता है, जैसे कोई भक्त अपने उपास्य-देव की ओर देखता हो। पढ़ता था जब आंखें चमकती थीं। मुझे इस दशा में देखेगा तो क्या कहेगा ? चौंक उठेगा। चकित रह जाएगा। उसे आशा न होगी कि मैं भिखारी बनकर उस के सामने

हाथ पसारूंगा, और मैं—मैं उस के सामने आंखें न उठा सकूंगा। लज्जा से भूमि में गड़ जाऊंगा। मुझे नौकरी मिल जाएगी, पर आत्म-गौरव की दौलत जाती रहेगी। यह सौदा महंगा है। लोग आत्म-गौरव की खातिर सर्वस्व लुटा देते हैं। क्या मैं चांदी के कुछ सिक्कों के लिए इस अमोल धन से शून्य रह जाऊंगा? नहीं, यह भूल होगी। मैं यह भूल कभी न करूंगा।

यह सोच कर इन्द्रनाथ धीरे से उठे, और द्वार खोल कर बाहर निकल आए। इस समय उन के मुंह पर आध्यात्मिक आभा थी, जो इस असार संसार में कम ही दिखाई देती है। उन की आंखों में आत्म-सम्मान की ज्योति जलती थी, दिल में स्वर्गीय आनन्द का सागर लहरें मारता था। पहले आत्मा को प्रकृति ने पछाड़ा था अब प्रकृति पर आत्मा ने विजय पाई। इन्द्रनाथ में वही सन्तोष था वही त्याग, वही वैराग्य जो सन्यासियों की सम्पत्ति है, जिस के लिए योगी जङ्गलों में भटकते फिरते हैं। घर पहुंचे तब ऐसे प्रसन्न थे, जैसे कुबेर का धन पा गए हों। मनोरमा बोली—मालूम होता है, काम बन गया।

इन्द्रनाथ-"आशा से भी अधिक।"

मनोरमा—"परमात्मा को धन्यवाद है कि उस ने हमारी सुन ली। क्या महीना मिलेगा?"

इन्द्रनाथ—"कुछ न पूछो, इस समय मेरा दिल बस में नहीं है।"

मनोरमा—"अरे ! तो क्या मुझे भी न बताओगे ?"

इन्द्रनाथ ने मनोरमा को सारी कहानी सुना दी, और अन्त में कहा—"मनोरमा ! मुझे नौकरी नहीं मिली, पर आत्म-ज्ञान मिल गया है। मेरे ज्ञान-चक्षु खुल गए हैं। मैं अपने आप को भूला हुआ था, आज मेरे हृदय पट से परदा उठ गया है। मुझे मालूम हो गया है, कवि की पदवी कितनी महान्, कैसी उच्च है ? वह दिलों के सिंहासन पर राज्य करता है, वह सोती हुई जाति को जगाता है, वह मरे हुए देश में नवजीवन का सञ्चार करता है। दुनिया अपने लिए जीती है और अपने लिए मरती है, मगर कवि का सारा जीवन उपकार का जीवन है। वह गिरे हुए उत्साह को उठाता है, रोती हुई आंखों के आंसू पोंछता है, और निराशावादियों के सम्मुख आशा का दिव्यदीपक रोशन करता है। दुनिया के लोग उत्पन्न होते हैं और मर जाते हैं, पर ऐसे जाति-निर्माता सदा ज़िन्दा रहते हैं, उन्हें कभी मौत नहीं आती। मैंने नौकरी नहीं ली, यह अमर जीवन ले लिया है। मनोरमा मेरा हाथ थामो, मेरी सहायता करो। इस में सन्देह नहीं, तुम्हें कष्ट होगा, पर इस के बदले में जो आत्मिक आनन्द, जो सच्चा सुख प्राप्त होगा उसका मोल कौन समझ सकता है ?"

मनोरमा ने श्रद्धा भाव से अपने पति की ओर देखा, और मुस्कराने लगी।

एथेन्स का सत्यार्थी

(१)

यह उस बीते हुए युग की कहानी है, जब यूनान ऐश्वर्य और सभ्यता के शिखर पर था और संसार की सर्वोत्तम सन्तान यूनान में उत्पन्न होती थी।

रात का समय था, काव्य और कला की कभी न भूलने वाली प्राचीन नगरी एथेन्स पर अन्धकार छाया हुआ था। चारों तरफ़ सन्नाटा था, चारों तरफ निस्तब्धता थी—सब बाज़ार खाली थे, सब गलियां निर्जन थीं, और यह सुन्दर आबाद नगरी रात के अन्धेरे में दूर से इस तरह दिखाई देती थी, जैसे किसी जंगल में धुंधली सी अपूर्ण छाया का पड़ाव पड़ा हो।

पूरी नगरी पूरा विश्राम कर रही थी। उस के विद्वान् और विलासी बेटे अपनी-अपनी शय्या पर बेसुध पड़े थे। रंग-शालाएं ख़ाली हो चुकी थीं, विलास-भवनों के दीपक बुझा दिए गए थे और द्वारपालों की आंखों की पलकें नींद के लगातार आक्रमणों के सामने झुकी जाती थीं। परन्तु एक नव-

युवक की आंखें नींद की शान्ति और शान्ति की नींद दोनों से वंचित थीं।

यह देवकुलीश एक विद्यार्थी था, जिस की आत्मा सत्य-दर्शन की प्यासी थी। वह एक बड़े धनवान् का बेटा था, उस की सम्पत्ति उस के लिए प्रत्येक प्रकार का विलास खरीद सकती थी, वह अत्यन्त मनोहर था, यूनान-माता की सब से सुन्दर बेटियां उस के प्रेम में पागल हो रहीं थीं। वह बहुत उच्च-कोटि का तत्व-वेत्ता था, उस की साधारण युक्तियां भी अध्यापकों की पहुंच से बाहर थीं, परन्तु उसे इस पर भी शान्ति न थी। वह सत्यार्थी था। वह सत्य की खोज में अपने आप को मिटा देने पर तुला हुआ था। वह इस रास्ते में अपना सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार था। मर्त्य-लोक की नाशवान् खुशियां उस के लिए अर्थ-हीन वस्तुएं थीं। यौवन और सौन्दर्य की सजीव मूर्तियों में उस के लिए कोई आकर्षण न था। वह चाहता था, किसी तरह सत्य को बे परदा, नंगा देख ले। ऐसा नहीं, जैसा वह दिखाई देता है, बल्कि ऐसा जैसा वास्तव में है। वह अपनी इस मनोरथ-सिद्धि के लिए सब कुछ करने को तैयार था।

देवकुलीश रात-दिन पढ़ता था।

पढ़ता था और सोचता था। सोचता था और पढ़ता था। मगर उस के स्वाध्याय, चिन्तन और मनन से उस के प्यासे हृदय की प्यास मिटती न थी, बढ़ती जाती थी। सत्य

का रोगी चिकित्सा से और ज़्यादा बीमार होता जाता था।

(२)

विद्यालय के विशाल आंगन में एक ऊंचा चबूतरा था, जिस पर पता नहीं कब से मिनरवा, ज्ञान और विवेक की देवी, संगमरमर के वस्त्र पहने खड़ी थी। देवकुलीश पत्थर की इस मूर्ति के हिम-समान पैरों के निकट आकर घण्टों बैठा रहता और संसार के रहस्य पर चिन्तन किया करता था। यहां तक कि उस के मित्रों और सहपाठियों ने समझ लिया, कि इस के मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो गया है। वे उस की इस शोचनीय (?) दशा को देखते थे और कुढ़ते थे।

उस रात भी देवकुलीश देवी के पैरों के निकट बैठा था और रो रहा था—"कृपा कर! ऐ विद्या और विज्ञान की सब से बड़ी देवी! कृपा कर। मेरे मन की अभिलाषा पूरी कर। मैं कई वर्षों से तेरी पूजा कर रहा हूं, मैंने कई रातें तेरे पैरों को अपने आंसुओं से धोने में काट दी हैं। मैंने कई दिन केवल तेरे ध्यान में बिता दिए हैं। मेरी प्रार्थना को सुन और उसे स्वीकार कर!"

देवकुलीश यह कह कर खड़ा हो गया और देवी के तेज-पूर्ण मुंह की तरफ़ देखने लगा, मगर वह उसी तरह चुपचाप खड़ी थी।

इतने में चन्द्रमा आकाश में उदय हुआ। उस के सुवर्ण और सुशीतल प्रकाश में देवी की मूर्ति और भी मनोहर दिखाई देने लगी।

अब देवकुलीश फिर मूर्ति के चरणों में बैठा था और फिर उसी तरह बालकों के सदृश रो-रोकर प्रार्थना कर रहा था। मानों वह संगमरमर की मूर्ति न थी, इस दुनियां की जीती-जागती स्त्री थी, जो सुनती भी है, बोलती भी है। बुद्धिमान् देवकुलीश ने पागलपन के आवेश में कहा—आज की रात फ़ैसले की रात है। ऐ ज्ञान और विवेक की रानी! तूने मेरे दिल में जिज्ञासा की आग सुलगाई है, तू ही उसे सत्य के शीतल जल से शान्त कर सकती है। सत्य कहां है?—अजर, अमर, अटल सत्य। वह सत्य जिस पर बुद्धिमान् लोग शास्त्रार्थ करते हैं, जिस का पण्डित चिन्तन करते हैं, जिसे लोग एकान्त में तलाश करते हैं, मन्दिरों में ढूंढ़ते हैं, जिस के लिए दूर दूर भटकते हैं! मैं वह उच्च-कोटि का सत्य देखने का अभिलाषी हूं। नहीं तो मैं चांद की उज्ज्वल चांदनी के सामने तेरे पवित्र पैरों की सौगन्ध खाकर कहता हूं कि अपने निरर्थक जीवन को यहीं, इसी जगह समाप्त कर दूंगा। मुझे सत्य-हीन जीवन की कोई आवश्यकता नहीं।"

यह कह कर देवकुलीश ने अपनी चादर के अन्दर से एक कटार निकाली और आत्म-हत्या करने को तैयार हो गया।

एकाएक सफ़ेद पत्थर की मूर्ति सजीव हो गई। उस ने

देवकुलीश के हाथ से कटार छीन ली, उसे आंगन के एक अंधेरे कोने में फेंक दिया और कहा—देवकुलीश !

देवकुलीश कांपता हुआ खड़ा हो गया और आशा, आनन्द और सन्देह की दृष्टि से देवी की ओर देखने लगा, क्या यह सच है ?

हां यह सच था, देवी के होंठ सचमुच हिल रहे थे—"देव-कुलीश ! देवकुलीश !"—देवकुलीश देवी का एक-एक शब्द पूरे ध्यान से सुन रहा था।

"देवकुलीश ! मौत का मार्ग अंधेरा है। तू मेरा पुजारी-मेरी आंखों के सामने इस मार्ग पर नहीं जा सकता। मेरे लिए यह असह्य है, कि मेरे सामने कोई व्यक्ति आत्म हत्या कर जाय। बोल ! क्या मांगता है, मैं तेरी हर एक मनोकामना पूरी करने को तैयार हूं।"

देवकुलीश का दिल सफलता के आनन्द से धड़क रहा था। उस के मुंह से शब्द न निकलते थे। वह देवी के पैरों के निकट बैठ गया, और श्रद्धाभाव से बोला—"पवित्र देवी ! मैं सत्य को उस के अपने असली स्वरूप में देखना चाहता हूं। नंगा, बेपरदा, खुला सत्य। और कुछ नहीं, बस सत्य !"

"तू सत्य को जानना चाहता है"—देवी के होंठों से आवाज़ आई—"तू आप सत्य है। यह आंगन भी सत्य है। मैं भी सत्य हूं। आंखें खोल, सत्य संसार के चप्पे-चप्पे में मौजूद है।"

देवकुलीश—"मगर उस पर परदे पड़े हुए हैं।"

देवी—"विवेक की आंख उन परदों के अन्दर का दृश्य भी देख सकती है।"

देवकुलीश—"पवित्र माता! मैं सत्य को विवेक से नहीं, आंखों से देखना चाहता हूं। मैं सोचकर नहीं देखना चाहता, देखकर सोचना चाहता हूं।"

देवी ने अपना पत्थर का सफ़ेद, ठंडा, और भारी हाथ देवकुलीश के कन्धे पर रख दिया और मीठे स्वर में बोली—"बे परदा, नंगा सत्य आज तक दुनियां के किसी बेटे ने नहीं देखा, न देवताओं ने किसी बेटे को यह वरदान दिया है। तू अन्न का कीड़ा है, तेरी आंखों में यह दृश्य देखने की शक्ति कहां? मेरा परामर्श है, यह ख्याल छोड़ दे और अपने लिए कोई और वस्तु मांग, मैं अभी, इसी जगह दूंगी।"

देवकुलीश—"यूनान की सब से बड़ी देवी! मैं केवल नंगा सत्य देखना चाहता हूं, और कुछ नहीं चाहता।"

देवी—"मगर इस का मूल्य......"

देवकुलीश—"जो कुछ तू मांगे।"

देवी—"धन, दौलत, सौंदर्य, यश सब तुझ से छूट जायेंगे। तुझे अपनी दुनिया को चांद और सूरज के प्रकाश से भी वंचित करना होगा—शायद इस यत्न में तुझे अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़े। बोल! क्या अब भी तू सत्य का नंगा रूप देखना चाहता है।"

देवकुलीश—'मुझे सब कुछ स्वीकार है।"

देवी ने सिर झुका लिया।

देवकुलीश— 'परमेश्वर की सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मैं इस के लिये न त्याग सकूं।"

देवी ने फिर सिर उठाया और मुस्करा कर कहा—"बहुत अच्छा! तू सत्य को देख लेगा, तुझे सत्य दिखा दिया जाएगा, सत्य का वास्तविक, नंगा रूप तेरे सामने होगा; परन्तु एक बार नहीं, धीरे-धीरे। चल! आज सत्य का एक परदा उठा, बाकी एक वर्ष के बाद!"

(३)

यह कहते-कहते देवी ने अपनी सफ़ेद पत्थर की चादर उतार कर चबूतरे पर रख दी और देवकुलीश को गोद में उठा लिया। देखते-देखते देवी के दोनों कंधों पर परियों के से दो पर निकल आए। देवी ने पर खोले, और हवा में उड़ने लगी। पहले शहर, मन्दिरों के कलश, पर्वत, फिर चांद, तारे, बादल सब नीचे रह गए। देवी देवकुलीश को लिए आकाश में उड़ी जा रही थी। थोड़ी देर बाद उस ने देवकुलीश को बादलों के एक पहाड़ पर खड़ा कर दिया। देवकुलीश ने देखा, पृथ्वी उस के पांव तले बहुत दूर, बहुत नीचे एक छोटे से तारे के समान टमटमा रही है, और थी यह वह दुनिया, जिस को वह इतना बड़ा समझ रहा था; मगर देवकुलीश

का ध्यान इस ओर न था। उस ने अपने पास छाया में छिपी हुई एक धुंधली सी चीज़ देखी, और देवी से पूछा—यह क्या है ?

देवी—"यह सत्य है। यह छिप कर यहां रहता है। यहीं से तेरी और अनगिनत दूसरी दुनियाओं को अपनी दिव्य-ज्योति भेजता है। इसी के धुंधले प्रकाश में बैठकर बुद्धिमान लोग संसार की पहेलियां हल किया करते हैं, और गुरु अपने शिष्यों को जीवन की शिक्षा देते हैं। यही प्रकाश सृष्टि का सूरज है, यही ज्योति मानव-चरित्र का आदर्श है। तू कहेगा, यह तो कुछ ज्यादा प्रकाशमान् नहीं, परन्तु देवकुलीश ! तेरे शहर के निकट जो नदी बहती है, यदि उस की सारी रेत का एक एक कण एक-एक सूरज बन जाय तब भी उस में इतना प्रकाश न होगा जितना इस पहाड़ की छाया में है, मगर वह परदों में छिपा हुआ है। चल, आगे बढ़ और इस का एक परदा फाड़ दे।

देवकुलीश ने एक परदा फाड़ दिया। इस के साथ ही उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे संसार में एक नवीन प्रकार का प्रकाश फैल गया है। सच की छाया अब पहले से अधिक स्पष्ट और चमकदार थी। देवी देवकुलीश को फिर एथेंस में उड़ा लाई और अपनी सङ्गमरमर की चादर ओढ़ कर उसी चबूतरे पर उसी तरह चुप-चाप खड़ी हो गई।

अब देवकुलीश की दृष्टि में चांदी और सोने का कोई

मूल्य न था। वह लोगों को धन के पीछे भागते देखता, तो उसे आश्चर्य होता था। वह चांदी को सफेद लोहा, और सोने को पीला लोहा कहता था, और इन की प्राप्ति के लिए अपना परिश्रम नष्ट न करता था। उसे पढ़ने की धुन थी, दिन-रात पढ़ता रहता था। उस के बाप ने उस का साधु-स्वभाव देख कह दिया, कि इसे मेरी जायदाद में से कुछ न मिलेगा, परन्तु देवकुलीश को इस की ज़रा चिन्ता न थी। उस के मित्र-सम्बन्धी कहते—"देवकुलीश! यह आयु जवानी और गरम खून की है। सफेद बालों और झुकी हुई कमर का युग आरंभ होने से पहले-पहल कुछ जमा कर ले। नहीं फिर बाद में पछताएगा।"

देवकुलीश उन की तरफ़ अद्‌भुत् दृष्टि से देखता और कहता–"तुम क्या कह रहे हो, मैं कुछ नहीं समझता।"

एथेंस की एक बहुत अमीर की कुंवारी बेटी अब भी देवकुलीश से प्रेम करती थी। जब वह देवकुलीश की इस दीन दशा को देखती थी, तो अपने दिल में कुढ़ती थी। देवकुलीश के खाने-पीने का प्रबन्ध भी वही करती थी। अन्यथा वह भूखा-प्यासा मर जाता।

इसी तरह एक वर्ष के तीन सौ पैंसठ दिन समाप्त हो गए। रात का समय था, एथेंस पर फिर अन्धकार-पूर्ण सन्नाटा छाया हुआ था। देवकुलीश ने फिर देवी के पैरों पर सिर झुकाया। देवी उसे फिर बादलों के पहाड़ पर ले गई। और

देवकुलीश ने सत्य का दूसरा परदा फाड़ दिया। इस बार सत्य का प्रकाश और भी साफ़ हो गया। देवकुलीश ने उसे देखा और उस की आंखों को वह ज्ञान-चक्षु मिल गए, जो यौवन और सुकुमारता के लाल लहू के पीछे छिपे हुए बुढ़ापे की एक-एक झुर्री को देख सकते हैं। फिर वह अपनी अज्ञान और अविद्या की दुनिया को वापस चला आया। देवी फिर संग-मरमर का बुत बनकर अपने स्थान पर खड़ी हो गई।

(४)

एक दिन उस के एक मित्र ने कहा—"देवकुलीश ! आज यूनान की सारी कुंवारी लड़कियां एथेंस में जमा हैं, और यूनान की सब से सुन्दरी युवती को सौन्दर्य का पहला इनाम दिया जाएगा। क्या तू भी चलेगा ?"

देवकुलीश ने उस की ओर मुस्करा कर देखा और कहा–"सत्य वहां नहीं है।"

दूसरे दिन एक अध्यापक ने कहा—"आज यूनान के सारे समझदार लोग विद्यालय में जमा हैं। क्या तुम उन से मिलोगे ?"

देवकुलीश ने ठण्डी आह भर कर जवाब दिया—"सत्य वहां भी नहीं है।"

तीसरे दिन एक महन्त ने कहा—"आज चांद-देवी के बड़े मन्दिर में देवताओं की पूजा होगी ! क्या तुम भी आओगे ?"

देवकुलीश ने लम्बी आह खींची और कहा—"सत्य वहां भी नहीं है।"

और इस तरह इस सत्यार्थी ने जवानी ही में जवानी के सारे प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर ली। अब वह पूरा महन्त था, मगर वह एथेंस के किसी मेले में नज़र न आता था, उस की आवाज़ किसी सभा में सुनाई न देती थी।

देवकुलीश साल भर एकान्त में पढ़ता रहता और इस के बाद बादलों के पहाड़ पर जाकर सत्य का एक परदा फाड़ आता था। इसी तरह कई वर्ष बीत गए। उस का ज्ञान दिन-पर दिन बढ़ता गया, मगर उस की आंखें अन्दर धंस गई थीं, कमर झुक चुकी थी, सिर के सारे बाल सफ़ेद हो गए थे। उस ने सत्य की खोज में अपनी जवानी बुढ़ापे की भेंट कर दी थी। मगर उसे इस का दुःख न था, क्योंकि वह जवानी और बुढ़ापे की सत्ता से परिचित हो चुका था।

और लोग यह समझते थे—देवकुलीश ने अपने लिए अपनी कुटिया को अपनी समाध बना लिया है।

(५)

आख़िर वह प्यारी रात आ गई, जिस की प्रतीक्षा में देव-कुलीश को अपने जीवन का एक-एक क्षण, एक-एक वर्ष, एक-एक शताब्दि से भी लम्बा मालूम होता था।

आज सत्य के मुंह से अन्तिम परदा उठेगा। आज वह

सत्य को नंगा, बेपरदा देखेगा, जिसे संसार के किसी नश्वर पुत्र ने आज तक नहीं देखा। आज उस की सब से बड़ी साध पूरी हो जायगी।

आधी रात को उसे विवेक और विज्ञान की देवी ने अन्तिम बार गोद में उठाया, और बादलों के पहाड़ पर ले जाकर खड़ा कर दिया।

देवकुलीश ने सत्य की ओर अधीर होकर देखा।

देवी ने कहा—"देवकुलीश! देख, इस का प्रकाश कैसा साफ़, कैसा तेज़ है। आज तक तूने इस के जितने परदे उतारे हैं, वे इस के परदे न थे तेरी बुद्धि के परदे थे। सत्य का एक ही परदा है: आगे बढ़ और उसे उतार दे: परन्तु अगर तू चाहे, तो अब भी लौट चल। मैं तुझे सातों समुद्रों के मोती और दुनिया का सारा सोना देने को तैयार हूं। तेरा गया हुआ स्वास्थ्य वापस मिल सकता है, तेरा उजड़ा हुआ यौवन लौटाया जा सकता है। मुझ से कह तेरे सिर के सफेद बालों को छू कर फिर से काला कर दूं। देवकुलीश! अब भी समय है! अपना संकल्प त्याग दे।"

मगर सूर सत्यार्थी ने देवी का कहना न माना, और आगे बढ़ा। उस का कलेजा धड़क रहा था, उस के पांव लड़खड़ा रहे थे, उस के हाथ कांप रहे थे, उस का सिर चकरा रहा था; मगर वह फिर भी आगे बढ़ा। उस ने अपने

आत्मा और शरीर की सकल शक्तियां हाथों में जमा कीं और उन्हें फैला कर सत्य का अन्तिम परदा फाड़ दिया।

ओ परमात्मा!

चारों ओर अन्धकार छा गया था; ऐसा भयानक अन्धकार जैसा इस से पूर्व देवकुलीश की आंखों ने कभी न देखा था। उसने चिल्ला कर कहा—"देवी माता! यह क्या हो गया? मुझे कुछ दिखाई नहीं देता; वह जो परदे के पीछे था, कहां चला गया।"

देवी ने मधुर स्वर से कहा—"देवकुलीश! देवकुलीश!!"

देवकुलीश ने अंधेरे में टटोलते हुए कहा—"देवी! मुझे बता, वह कहां है? मैं कहां हूं, तू कहां है?"

देवी ने अपना हाथ धीरे से उस के कंधे पर रखा, और बोली—"देवकुलीश! तेरी आंखें नंगे सत्य का दृश्य देखने में असमर्थ होने के कारण फूट गईं। अब संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो उन्हें ठीक कर सके। मैं ने तुझ से कहा था, यह विचार छोड़ दे; परन्तु तू ने न माना, और अब तू ने देख लिया कि जब मनुष्य सत्य को नंगा देखना चाहता है, तो क्या देखता है। सत्य परदों के अंदर ही से देखा जा सकता है। जब उस का परदा उतार दिया जाता है, तो मनुष्य वह देखता है, जो कभी नहीं देख सकता।"

देवकुलीश बादलों के पहाड़ पर मुंह के बल गिर पड़ा

और फूट-फूट कर रोने लगा।

हज़ारों वर्ष बीत चुके हैं: मगर एथेंस के सत्यार्थी की खोज अभी तक जारी है। अगर कोई आदमी बादलों के पहाड़ की सुनसान घाटियों में जा सके, तो उसे देवकुलीश के रोने की आवाज़ आज भी उसी तरह सुनाई देगी।

अठन्नी का चोर

(१)

रसीला बाबू जगतरामसिंह इञ्जीनियर के यहां नौकर था। दस रुपये वेतन था। गांव में उस के बुड्ढे पिता और जवान स्त्री के अतिरिक्त एक लड़की और दो लड़के थे। इन सब का भार उसी के कन्धों पर था। रसीला को जो तनख़्वाह मिलती, वह सारी घर भेज दिया करता। उस में वह अपने लिए एक पैसा भी न रखता। मगर घर वालों का गुज़ारा फिर भी न होता। रो रो कर पत्र लिखते, इतने में पूरा नहीं पड़ता, अधिक भेजो। रसीला यह हाल जान कर व्याकुल हो जाता, सोचता क्या करते होंगे। उस ने इञ्जीनियर साहब से वेतन-वृद्धि के लिए कई बार प्रार्थना की, पर इस का कुछ फल न हुआ। इञ्जीनियर साहब ने हर बार यही कहा—"मैं तनख़्वाह न बढ़ाऊंगा, चाहे रहो, चाहे चले जाओ। अगर तुम्हें कोई ज्यादा दे तो चले जाओ। मैं तुम्हें ज़बरदस्ती नहीं रोकता। रसीला अनपढ़ था। उसे सभ्य-समाज का

पानी न लगा था। वह रीति और नीति के गूढ़ रहस्य न समझता था। परन्तु वह मूर्ख न था। इतना जानता था, कि दूसरी जगह जाना ठीक न होगा। सोचता, यहां आठ साल से नौकर हूं घर वालों में हिलमिल गया हूं। अमीर घरों में लोग नौकरों पर विश्वास नहीं करते, परन्तु यहां मुझ पर कभी किसी ने सन्देह नहीं किया। यहां से छोड़ कर दूसरी जगह जाऊंगा तो मुझे कौन सौ-पचास की नौकरी दे देगा। सम्भव है, कोई ग्यारह-बारह दे दे, पर यह आदर न मिलेगा। रसीला को नौकरी छोड़ने का साहस न हुआ। बेबसी ने पांव बांध दिए। उस के मालिक के बंगले के पड़ोस में शेख़ सली-मुद्दीन ज़िला-मजिस्ट्रेट रहते थे। उन के चौकीदार मियां रमज़ान और रसीला में बहुत मैत्री थी। घण्टों एक साथ बैठे रहते, बातें करते, और तम्बाकू पीते। शेख़ साहब फलों के शौक़ीन थे; रमज़ान रसीला को फल देता। इञ्जीनियर साहब मिठाई के रसिया थे, रसीला रमज़ान को मिठाई देता। सादगी की इस मुरौवत में जो स्वर्गीय आनन्द है वह न धन-दौलत में है, न राजमहलों में। दोनों ग़रीब थे, दोनों नेक: एक-दूसरे से अपनी हर एक बात साफ़ साफ़ कह दिया करते। कभी कभी उन में युद्ध भी छिड़ जाता। इस समय उन की जीभ ऐसे चलती, जैसे दरज़ी की क़ैंची। मगर युद्ध का समय ज्यादा न होता। प्रातःकाल लड़ते, सन्ध्या को सन्धि हो जाती। जैसे दरज़ी कपड़े फाड़ कर सूई से सी लेता है, उस

समय उस कपड़े में कैसी सुन्दरता होती है, कैसी आकर्षण-शक्ति। यही दशा इस जोड़ी की थी। उन की लड़ाई पानी के बुलबुले थे, जो इधर बनते हैं उधर टूट जाते हैं। उन से पानी की हानि नहीं होती, वरन शोभा बढ़ जाती है।

(२)

एक दिन रमज़ान ने रसीला को उदास देख कर पूछा, "भाई साहब! यह चेहरे पर परेशानी कैसी?"

रसीला वास्तव में दुःखी था। परन्तु उस ने अपना दुःख छिपाने का यत्न करते हुए उत्तर दिया—"मैं उदास क्यों होने लगा। तुम्हें भरम हुआ।"

"नहीं मुझ से छिपाते हो।"

"भैया! तुम से मैं ने आज तक कोई बात नहीं छिपाई।"

"पर अब तो छिपा रहे हो। तुम्हारा चेहरा कह रहा है।"

रसीला का हृदय रोता था, मगर उस ने होंटों से मुस्करा कर कहा—"यह तुम्हारा भरम कैसे दूर हो?"

"गङ्गा मैया की सौगन्ध खाओ।"

रसीला की जीभ से उत्तर न निकला। पृथ्वी की ओर देखने लगा। रमज़ान बोला—"लो अब कह ही दो।"

रसीला ने धीरे-धीरे सिर उठाया, और ठण्डी सांस भर कर बोला—"पूछ कर क्या करोगे?"

"और न होगा, तुम्हारे दिल का भार तो हलका हो जाएगा।"

रसीला ने सिर झुका लिया, सोचने लगा, कहूं या न कहूं। पर न कहना असम्भव था। हम दबाव के सामने तन सकते हैं, मगर प्रीति और सहानुभूति के सामने खड़े होने का साहस किस में है। रसीला ने रमज़ान का हठ देखा, तो उस की आंखें सजल हो गईं। रमज़ान के साथ उस का लहू का नाता न था, धर्म और जाति का नाता न था परन्तु फिर भी वह उस का दुःख-दर्द बांटने को अधीर हो रहा था। यह मनुष्यत्व का नाता था। रसीला चुप न रह सका। उस ने रुक कर कहा—"घर से ख़त आया है। बच्चे बीमार हैं, और रुपया नहीं है।"

"तो लाला साहब से पेशगी मांग लो। ज़रूर दे देंगे।"

"मांग चुका, नहीं देते।"

"क्या कहते हैं?"

"कहते हैं, बहाने बनाते हो; मैं एक पैसा भी न दूंगा। कैसा अभागा हूं, वे वहां बीमार पड़े हैं, मैं यहां अपने प्रारब्ध को रोता हूं, जो अभागे लोगों का अन्तिम सहारा है।"

रमज़ान ने ठण्डी सांस भरी और कहा—"या अल्लाह!"

"जी चाहता है। उड़ कर घर पहुंच जाऊं।"

"अल्लाह ताला अपना फ़ज़ल करे।"

"कोई कलेजे में बैठा उसे मल रहा है।"

"खुदा का ध्यान करो।"

"पता नहीं, उन का क्या हाल है। घबरा रहे होंगे। थोड़े

भी रुपए भेज देता तो उन्हें सन्तोष हो जाता।"

रमज़ान ने अब तक अपने आप को रोका था, अब न रोक सका. सिर उठा कर बोला—कितने रुपयों से तुम्हारा काम चल जायगा?"

रसीला चौंक पड़ा। आशा की किरण सामने दिखाई दी। कुछ आगे खिसक कर बोला—"दुर्गा माता की सौगन्ध! इस समय तो पांच रुपये भी पांच मोहरों से कम नहीं हैं।

रमज़ान उठ कर खड़ा हो गया। इस समय उस का दिल सीने में इस तरह धड़क रहा था, जैसे कोई उस की आंखों तले किसी बालक का वध कर रहा हो। उस ने रसीला को ठहरने का सङ्केत किया और आप अपनी कोठरी में चला गया। थोड़ी देर के बाद उस ने रुपये रसीला के हाथ पर रख दिए। रसीला के मुंह से कोई शब्द न निकला। वह उस समय कृतज्ञता की उस सीमा पर पहुंच चुका था, जहां आदमी को अपने भाव प्रकट करने को शब्द नहीं मिलते। उस ने अपनी आंसुओं से भीगी हुई आंखें ऊपर उठाईं और आकाश की ओर देख कर सिर झुका लिया। दिल में सोचता था—बाबू साहब के पास रुपये पैसे की कमी नहीं। यदि पेशगी दे देते तो मैं भाग न जाता। मैंने उन की इतनी सेवा की है। क्या मेरा इतना भी अधिकार नहीं। रमज़ान ग़रीब आदमी है। उस के पास बहुत होगा, बीस-पचीस रुपए होंगे। परन्तु मेरे दुःखों में उस ने मेरा हाथ थाम लिया। वह

आदमी नहीं, देवता है। मैं उस की नेकी का क्या बदला दूंगा! दुर्गा माता उस का भला करे।

(३)

कई महीने बीत गए, रसीला के बाल-बच्चे स्वस्थ हो गए। उस ने रमज़ान का ऋण चुका दिया है। अब उस के ज़िम्मे केवल आठ आने बाक़ी हैं। रमज़ान ने इन रुपयों के लिए कभी तगादा नहीं किया न कभी उन का प्रसङ्ग छेड़ा। वह इसे मनुष्यत्व से गिरा हुआ समझता था। मगर रसीला के दिल पर बोझ सा पड़ा रहता था। उस के सामने उस की आंखें न उठती थीं, न वह उस से खुलकर बात-चीत कर सकता था। यहां तक कि उसे अवकाश के समय शेख़ साहब के बंगले में पांव रखते भी लाज आती थी। कभी वे दिन थे, जब वह इस समय के लिए अधीर हो उठता था। तब वह किसी का ऋणी न था। अब उसे रमज़ान का ऋण चुकाना था। इसीलिए उस ने थोड़ा थोड़ा कर के ४॥) चुका दिए थे। अब केवल ॥) बाक़ी थे।

तीसरे पहर का समय था। रसीला ने घर का काम-काज समाप्त किया और मियां रमज़ान से मिलने चला। लेकिन वह वहां न था। रसीला निराश हो कर लौट आया, और नहाने के कमरे में बैठकर हुक़ा पीने लगा। यह कमरा लाला जगतरामसिंह के आफ़िस के पास ही था। हुक़ा पीते पीते

उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे आफ़िस में कोई बात-चीत कर रहा हो। रसीला डर गया। इस समय लाला साहब मकान पर न होते थे। यह उन के दफ़्तर का समय था। रसीला ने दरवाज़े से कान लगा दिए और सुनने लगा। स्वयं इंजीनियर साहब थे, जो किसी से बात-चीत कर रहे थे। रसीला की सन्तुष्टि हो गई, मगर वह खड़ा ही रहा। छिपकर बातें सुनने में हमें मज़ा आता है। रसीला चौंक पड़ा, यह आदमी इंजी-नियर साहब को रिश्वत देने आया था। उसे अपने कानों पर विश्वास न आता था, पर शब्द साफ़ थे—

"यह आप क्या दे रहे हैं मुझे?"

"पांच सौ रुपया है।"

"इतनी थोड़ी रक़म मैं न लूंगा। यह मेरा अपमान है।"

"मैं आप का सेवक हूं। यह रक़म नहीं, पान सुपारी के लिए भेंट है। आप समझें, आपने मेरा काम मुफ़्त कर दिया। यह एहसान सारी उम्र न उतरेगा। जब तक जीता हूं, हज़ूर की जान को दुआ देता रहूंगा।"

लाला जगतराम ने धीरे से कहा—"ख़ैर, आप की ख़ातिर लिए लेता हूं।"

रसीला ने इन शब्दों को कुछ समझा, कुछ न समझा, परन्तु इन के अर्थ समझने में उसे देर न लगी। पाप और अत्याचार को मूर्ख भी समझते हैं। उसे भय था कि कहीं कोई चोर लाला साहब के मकान पर हाथ न साफ़ कर रहा

हो। परन्तु यहां तो स्वयं लाला साहब किसी भले आदमी को लूट रहे थे। रसीला ने आत्म-पतन का यह लोभ-मय दृश्य देखा, तो उस के हृदय में असन्तोष का सोता खुल गया। सोचने लगा—रुपया कमाने का यह तरीक़ा कितना आसान है, कितना सीधा। इस के लिए लाला साहब ने परिश्रम नहीं किया, न दिमाग़ लड़ाया। आदमी आया, घर बैठे लक्ष्मी दे गया। एक मैं हूं कि सारे दिन मजूरी करता हूं और तब कहीं महीने भर के बाद दस रुपए हाथ आते हैं। पाप-सागर के इस भयंकर बहाव ने उस की बरसों की ईमानदारी को इस तरह निगल लिया, जैसे दरिया की गरजती हुई लहरें किनारे की हरियाली को निगल जाती हैं। बहुत देर तक सिर झुकाए हुए वह अपने विचारों में लीन रहा, और इस के बाद फिर रमज़ान की तरफ़ चला। इस समय रमज़ान बैठा सिगरेट पी रहा था। रसीला को देखते ही बोला—"भैया! आज कहां ग़ायब रहे?"

"कुछ न पूछो।"

"क्यों? ऐसी कौन सी बात है?"

"दुनिया में अद्‌भुत बातें होती रहती हैं।"

"मगर बात भी कहोगे या पहेलियां ही बुझवाओगे?"

"मियां साहब, जीभ खोलते हुए भय लगता है।"

"तो मालूम होता है, हम पर एतबार नहीं।"

रसीला बोला—"यह तुम्हारा भरम है। तुम पर एतबार न

होगा तो और किस पर होगा ?

"तो फिर छिपाते क्यों हो ?"

रसीला ने चारों तरफ़ देखा कि कोई सुनता न हो, फिर धीरे से कहा—किसी से कहोगे तो नहीं ?

"ज़बान खींच लेना !"

रसीला ने सारी बात सुना दी। रमज़ान ने पूछा—"बस ! यही बात थी ?"

"हां भाई ! मैं इसे छोटी बात नहीं समझता।"

रमज़ान ने रसीला की तरफ़ रहस्य-पूर्ण दृष्टि पात किया और बोला—हमारे शेख़ साहब के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?

"भगवान् जाने। हम ने किसी का मन तो नहीं देखा। पर आदमी नेक मालूम होते हैं।"

"तुम्हारे लाला साहब के गुरु हैं।"

"तुम्हें मेरी सौगन्ध ! धोखा तो नहीं देते।"

"आज भी एक शिकार फंसा है। हज़ार से कम में न तय होगा।"

"तो ये लोग इसी तरह पैसा कमाते हैं ?"

"और क्या ? तनख़्वाह पर रहें तो ऐसे बड़े बड़े मकान कैसे खड़े कर लें। इस गुनाह का फल मिलेगा या नहीं, यह ख़ुदा जाने। लेकिन इस दुनिया में तो मज़े उड़ाते हैं।"

(४)

रसीला सोचने लगा, आज तक मूर्खता की। मेरे हाथों सैकड़ों रुपए निकल गए, कभी धर्म नहीं बिगड़ा। अगर एक एक आना भी उड़ाता तो इस समय ख़ासी रक़म जमा होती। आज जवान हूं, कमाता हूं, खा लेता हूं। कल को बुड्ढा हो गया तो कौन देगा ? बाबू साहब तो लात मारकर बाहर निकाल देंगे। उस समय बैठा प्रारब्ध को रोऊंगा। धर्म की शोभा बहुत है, पर इस से कुछ मिलता नहीं। पाप का नाम बुरा है, पर जिस के साथ लगता है उसे पार उतार देता है। और फिर यह धर्म क्या केवल हम मजूरों के लिए ही रह गया है ? इन अमीरों को भी तो कुछ ख़्याल करना चाहिए। जब ये कुछ परवा नहीं करते तब हमीं क्यों करें ? आज तक बहुत किया, अब न करूंगा। इतने में लाला साहब ने उसे बुला कर कहा—"रसीला यह लो, दौड़ कर पांच रुपए की मिठाई ले आ।"

रसीला को मौक़ा मिल गया। पाप आदमी के पास चल कर आता है। किसी को उसे खोजने की ज़रूरत नहीं पड़ती। रसीला ने साढ़े चार की मिठाई ख़रीदी और अठन्नी रमज़ान को दे दी। उस ने समझा, ऋण का भार उतर गया, पर पाप का भार कब उतरेगा, यह ख़्याल न किया। मनुष्य कितना अदूरदर्शी है। वह इस संसार के आज को देखता है,

दूसरी दुनिया के कल को नहीं देखता। अगर देखे तो संसार स्वर्ग बन जाए।

बाबू जगतरामसिंह ने मिठाई देखी, तो चौंक पड़े। रसीले पर सन्देह हुआ, बोले—"यह मिठाई कितने की है?"

रसीला का रंग उड़ गया। सोचा क्या पहला ही पाप प्रकट हो जाएगा। परन्तु साहस कर के बोला—"हजूर! पांच रुपए की है।"

"सच कहते हो क्या? तुमने आज तक झूठ नहीं बोला। देखो! साफ़ साफ़ कह दो। सांच को आंच नहीं।"

"नहीं सरकार! मैं झूठ काहे को बोलूंगा। पूरे पांच रुपए की है।"

मगर जगतरामसिंह को विश्वास न हुआ। रसीला के उड़े हुए रंग और सहमी हुई आंखों ने काम बिगाड़ दिया। नए पापी की जीभ झूठ बोल सकती है, परन्तु उस की आंखें झूठ नहीं बोल सकतीं। उस के लिए संकल्प काफी है, इस के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। रसीला झूठ बोल रहा था, परन्तु आंखें साथ न देती थीं। जगतरामसिंह सब कुछ समझ गए। उन्होंने कड़क कर कहा—"तू बकता है, यह मिठाई पांच रुपए की कभी नहीं है।"

झूठा आदमी रोने पर बहुत जल्द उतर आता है। इस तरह हम दूसरों के कृपा-पात्र बन जाते हैं। रसीला भी रोने लगा। इञ्जीनियर साहब की स्त्री पर असर हो गया, बोलीं—

रहने भी दो धमकाए जाते हो । ग़रीब ने कभी पैसा तक नहीं हिलाया ।

रसीला को सहारा मिल गया, जैसे किसी डूबते को किनारा मिल जाए । और भी ऊंची आवाज़ से रोने लगा । "दुहाई है सरकार की । मैं ने एक पैसा नहीं छेड़ा । पूरे पांच की है !"

बाबू जगतरामसिंह ने रसीला के मुंह पर एक तमाचा मारा, और गरज कर बोले—"किस दुकान से लाया है ?"

"दिल्ली वाले की दुकान से, जो बड़े चौक में है ।"

"देखो ! झूठ न बोलो । साफ़ साफ़ कह दो, माफ़ कर दूंगा ।"

"नहीं सरकार । मेरा दोष भी हो, मान कैसे लूं ।"

"तो मेरे साथ चलो । अभी सच-झूठ का निश्चय हो जायगा ।"

रसीला बाबू साहब के साथ चला । इस समय उस के पांव कांप रहे थे, परन्तु पांवों से अधिक उस का दिल कांप रहा था । वह चाहता था किसी तरह बीता हुआ समय वापस आ जाय मगर परमात्मा का यह अटल नियम कैसे बदल जाता । उस ने राह में एक बार फिर कहा—"हुजूर ! मेरे शरीर पर कोढ़ फूटे, जो मैंने चोरी की हो ।"

इञ्जीनियर साहब ने सुना अनसुना कर दिया । झूठा बातें बहुत बनाता है, परन्तु उस में दम नहीं होता । वह ज्यों ज्यों

घटना-स्थल के समीप पहुंचता है, बैठता जाता है। किन्तु सच घमण्ड से गर्दन उठा कर चलता है। उसे किसी का भय नहीं होता, न वह परीक्षा के समय पीछे हटता है। इञ्जीनियर साहब ने बेपरवाई से उत्तर दिया—"मेरे साथ चला आ। अब ये बातें हलवाई के सामने ही कहना।"

अब चारों रास्ते बन्द थे। रसीला को भागने का अवसर न मिला। वह सहसा रुक गया। इञ्जीनियर साहब ने क्रोध से कहा—"चलता क्यों नहीं?"

रसीला ने सिर झुका लिया और बोला—"वहां जाकर क्या करूंगा?"

इञ्जीनियर साहब ने उसे तीखी दृष्टि से देख कर पूछा—"तो तू अपनी चोरी मानता है?"

"अब जो कुछ वहां जाकर होना है, वह यहीं क्यों न हो जाय। सरकार माई-बाप हैं। यह ग़लती हो गई। अब के माफ़ कर दें, फिर ख़ता हुई तो चमड़ा उतार लेना।"

"मिठाई कितने की थी।"

"साढ़े चार रुपए की। अठन्नी रमज़ान को दे दी। उस से पांच रुपए उधार लिए थे। बाक़ी तलब से दे दिए थे। आठ आने रहते थे, वह आज दे दिए।"

इञ्जीनियर साहब की आंखों से आग बरसने लगी। उन्होंने घर आकर रसीला को हाथों की पूरी शक्ति से मारा। ऐसी निर्दयता से धोबी मैले वस्त्रों को भी पत्थर पर न मारता

होगा। रसीला ने कभी मार न खाई थी। वह इस तरह कराहता था, जैसे बकरा क़साई के छुरे-तले कराहता है। उस की आवाज़ से पत्थरों में भी सूराख़ हो जाते। मगर इञ्जीनियर साहब को उस पर ज़रा दया न आई। यहां तक कि बेत को उस की दशा पर दया आ गई, और वह पुरज़ा पुरज़ा हो गया। इञ्जीनियर साहब ने हाथ रोक लिया, परन्तु उन का हृदय अब भी न रुका। उन्होंने रसीला को पुलिस के हवाले कर दिया, और उन रिश्वत के पांच सौ रुपयों में से पांच रुपए का दूसरा नोट सिपाही को देकर कहा—"इक़बाल करा लेना। लातों के भूत बातों से नहीं मानते।"

(५)

दूसरे दिन मुक़द्दमा शेख़ सलीमुद्दीन की कचहरी में पेश हुआ। रसीला ने आते ही अपना अपराध स्वीकार कर लिया उस ने कोई ननु नच नहीं की। अपने बचाव के लिए कोई बहाना नहीं बनाया। कोई झूठ नहीं बोला। अगर चाहता तो कह सकता था कि यह सब साज़िश है। मैं इन के यहां नौकरी नहीं करना चाहता था। इन्होंने मुझे फंसाने के लिए जाल बिछाया है। हलवाई का क्या है? उस की मिठाई इन के यहां नित्य जाती रहती है। वह इन की न कहेगा तो क्या मेरी कहेगा। मगर उस ने यह कुछ न कहा। एक अपराध कर चुका था, दूसरा करने का साहस न हुआ। अब उस

की आंखें खुल गई थीं। उस के अपराध का दौर कैसा अल्प था, कितना शिक्षाप्रद। उस ने कचहरी में जाते ही अपना अपराध स्वीकार कर लिया और हाथ बांधकर कहा—"हजूर! यह मेरा पहला अपराध है। अब की माफ हो जाए, फिर कभी ऐसी ग़लती न होगी।"

शेख साहब न्याय-प्रिय आदमी थे। वे दया करना न जानते थे। वे केवल न्याय करते थे। रसीला को माफ़ कर देते तो उन के नाम पर बट्टा लग जाता, शहर में मुंह न दिखा सकते। न्याय के सिंहासन पर बैठकर यह अन्याय कैसे करते? उन्होंने रसीला को छः महीने की क़ैद की सज़ा दी, और अपने मुंह पर रूमाल फेरा। यह रूमाल वही था जिस में एक दिन पहले किसी आसामी या आसामी के सम्बन्धी ने एक हज़ार रुपए के नोट बांधकर उनको भेंट किए थे।

रसीला ने यह फ़ैसला सुना। उस का चेहरा ज़रा भी मलीन न हुआ, मगर रमज़ान की आंखों में खून उतर आया। वह दिल में सोचता था, यह न्याय नहीं न्याय की हत्या है। संसार में न्याय के नाटक होते हैं, न्याय के नाम पर तालियां बजती हैं। परन्तु वह न्याय, वह स्वर्गोपम-सुषमा, वह दुनिया की ज्योति कहां है? उसे किस ने देखा है?

यह दुनिया न्याय-पुरी नहीं, अन्धेर-नगरी है। यहां चोर मालिक गिरफ़्तार कराता है, चोर सिपाही गिरफ़्तार करता है, चोर हाकिम सज़ा देता है। चोर इसलिए कि उस का

अपराध प्रकट हो गया। परन्तु उन सभ्य चोरों को, उन असली डाकुओं को जो अपने अपने घरों में बैठकर आराम से दूसरों का धन हथियाते हैं, कोई नहीं पूछता।

रमज़ान घर पहुंचा। इस समय उस का चेहरा निराशा की सजीव मूर्त्ति था। एक दासी ने पूछा— क्यों रमज़ान! रसीला को क्या हुआ?

"छः महीने की क़ैद का हुक्म हुआ है।"

दासी ने घृणा से कहा—"बहुत अच्छा हुआ। कम्बख़्त इसी लायक़ था। यह इंसाफ़ है।"

मगर रमज़ान ने इस तरह जैसे कोई मिन्नत कर रहा हो, कहा—"नहीं। तुम ग़लती पर हो। यह इंसाफ़ नहीं, अन्धेर है।"

दासी ने समझने का यत्न किया, पर समझ न सकी कि रमज़ान का क्या मतलब है।

रात के समय, जब एक हज़ार, पांच सौ, और पांच रुपए के चोर अपने मकान में गुदगुदे बिस्तरों पर शान्ति की नींद सो रहे थे, अठन्नी का चोर जेल की तंग और अंधेरी कोठरी में बन्द था, और अपने आप को दूसरे दिन की यातनाओं के लिए तैयार कर रहा था।

हंस की चाल

(१)

कुछ समय गुज़रा, कानपुर में एक बड़े सुप्रसिद्ध कवि रहते थे, मुंशी ईश्वर सरण रासिक। आयु तो कुछ अधिक न थी, मगर जब लिखने बैठते तो सुन्दरता की नदियां बहा देते थे। उन की उपमाएं, उन की शब्द-रचना, उन के अलङ्कार सब अनूठे थे। लोग उन की कविताएं पढ़ कर तड़प उठते थे। असम्भव था कि कहीं कोई कवि-दरबार हो और उस में रसिक जी को न बुलाया जाए। उन के एक-एक पद पर श्रोता वाह-वा करते थे। वह सभा पर मोहिनी डाल देते थे। उन के बाद किसी दूसरे का रंग न जमता था, इस लिए उन की बारी सब के बाद आती थी। वह किसी चीनी के कारखाने में नौकर थे। वेतन भी ज्यादा न था, केवल चालीस पैंतालीस पाते थे और इसी पर सन्तुष्ट थे। प्रायः कहा करते, यह धन नहीं तो क्या हुआ, विधाता ने काव्य-धन देने में तो कंजूसी से काम नहीं लिया। अब दुनिया का प्रत्येक पदार्थ एक ही

आदमी को कैसे मिल जाए। बाज़ार में निकलते और लोग उन्हें देख कर इशारों में कहते, यह रसिक जी जा रहे हैं, तो आप किसी दिव्य-लोक में पहुंच जाते। उस समय उन्हें ऐसा मालूम होता था, जैसे आकाश में उड़े जा रहे हैं। कीर्ति-मदिरा का नशा कितना तेज, कितना वस में कर लेने वाला है।

परन्तु उन को एक बात का बड़ा दुःख था उन की जीवन-संगिनी इस साहित्य-कीर्ति की हिस्सेदार न थी। वैसे भागीरथी पर प्राण देते थे। उसे देख कर उन के हृदय-सागर में प्रेम और आनन्द की मौजें उठने लगती थीं। उस की मुस्कराहट उन के अंधेरे दिल का दीपक थी। उस से कहते— भागीरथी! मेरी कविता के माधुर्य्य और लालित्य का सोता तू है। मगर भागीरथी का यह प्रकाशमय सोता ईश्वर सरण के लिए था उस के अपने लिए नहीं जैसे दीपक दूसरों को रोशनी देता है, मगर उस के अपने दिल में सदा अन्धकार छाया रहता है। ईश्वर सरण चाहते थे, भागीरथी भी काव्य-रचना करे, उस की कविताएं भी हिन्दी की उच्च-कोटि की पत्रिकाओं में प्रकाशित हों और वह देख-देख कर झूमें। उन के इष्ट मित्र कहें, भाई! तुम्हारा प्रारब्ध अच्छा है, जो ऐसी विदुषी स्त्री मिली, वाह-वा, क्या खूब लिखती है, पढ़ कर दिल की आंखें खुल जाती हैं; इधर हमारी स्त्रियां हैं कि कभी भूल से एक दोहा भी मुंह से निकल जाए, तो मुंह तकने लगती हैं। यह ख़्याल कैसे आनन्द-मय थे कैसे

सम्मान-सूचक ? ईश्वर सरण उस दिन के लिए उत्सुक थे, वह उस के लिए अपना सर्वस्व लुटाने को भी तैयार थे।

मगर भागीरथी कविताएं समझती थी, लिख न सकती थी। उस के पिता को लड़कियां पढ़ाने का चाव था। उन्हों ने भागीरथी को हिन्दी की उच्च शिक्षा दी थी। इस के बाद उसे ईश्वर सरण जैसा साहित्य-सेवी पति मिला। सोने पर सुहागा हो गया, कुछ ही दिनों में अच्छे-अच्छे कवियों की रचना समझने लगी। उस की तर्क-शक्ति देख कर रसिक जी भूमि से उछल पड़ते थे। परन्तु अब इसे क्या कहा जाए कि वह कविता समझती थी, कविता लिख न सकती थी। हम हर रोज कई चित्र देखते हैं। अच्छे चित्र की प्रशंसा करते हैं, बुरे चित्र पर नाक सिकोड़ लेते हैं। पर हम में चित्र बनाने वालों की संख्या कितनी है ? ईश्वर सरण इस मोटी बात को भी न समझते थे।

(२)

एक दिन रसिक जी सन्ध्या-समय दफ़्तर से लौटे तो उन के हाथ में एक मासिक पत्रिका थी। आते ही स्त्री से बोले,—"एक बहुत बढ़िया कविता है, देखोगी ?" भागीरथी इस समय धुले हुए कपड़े संवार संवार कर सन्दूक में रख रही थी। उस ने मुंह फेर कर पति की तरफ देखा और मुस्करा कर उत्तर दिया,—"पहले यह कपड़ों की कविता

समाप्त कर लूं फिर वह भी देख लूंगी। कौन सी पत्रिका है यह ?"

"बीसवीं सदी।"

"आप की कविता छपी या नहीं ?"

"छप गई। मगर मैं तुम्हें एक दूसरी कविता दिखाना चाहता हूं।"

"किस की है ?"

"कोई स्त्री व्रजकुमारी फूल है, उस की।"

भागीरथी ने सन्दूक के एक कोने में नए कपड़ों के लिए जगह बनाते हुए कहा,—"नई लेखिका है। यह नाम पहले कभी नहीं सुना।"

"परन्तु कविता बहुत बढ़िया है। देखोगी, तो खुश हो जाओगी।"

भागीरथी ने कपड़े वहीं छोड़ दिए और लपक कर पत्रिका पति के हाथ से छीन ली। ऐसे चाव से कोई स्त्री आभूषणों के डिब्बे पर भी कम लपकी होगी। भागीरथी ज्यों-ज्यों कविता पढ़ती जाती थी, उस के चेहरे का रंग खिलता जाता था। ईश्वर सरण ने कोट उतार कर खूंटी से लटका दिया और पूछा,—

"क्यों श्रीमती जी ! कैसी कविता है ? बोलो।"

भागीरथी—"बहुत बढ़िया ! पढ़ कर आंखों के सामने चित्र आ जाता है।"

ईश्वर सरण—"बस-बस ! मेरी भी यही सम्मति है। अच्छा अगर तुम इन्सपैक्टर हो, तो इसे कितने नम्बर दो।"

भागीरथी ने पत्रिका लपेट कर दोनों हाथ कमर के पीछे कर लिए और बड़ी गम्भीरता से सोचने लगी।

ईश्वर सरण—"मगर देखो ! यह ब्रजकुमारी फूल ही की परीक्षा नहीं, तुम्हारा भी इम्तिहान है।"

भागीरथी ने अजीब-सा मुंह बना कर कहा,—'मेम साहब की राय में यह लड़की दस में से छः नम्बर पाने के योग्य है।"

ईश्वर सरण—" ! तो बाकी नम्बर क्यों काट लिए ?"

भागीरथी—"तुम्हारे लिए। और एक और बात भी है, इसे पूरे नम्बर दे देती तो आप फ़ेल हो जाती। तुम कहते, चार सुन्दर शब्द देखकर अवाक् रह गई। अच्छा, अब बैठ जाओ; खड़े कब तक रहोगे ?"

यह कहकर भागीरथी ने बालपन की सादगी से पति के दोनों हाथ पकड़े और उन्हें कमरे में ले जाकर चारपाई पर बैठा दिया। इस के बाद आप भी उनके पास ही बैठ गई और उन के कन्धे पर सिर रखकर बोली,—"कविराज जी का दिल इस समय कहां है ?"

ईश्वर सरण—"बड़ी दूर !"

भागीरथी—(बनावटी क्रोध से सिर उठाकर) "बड़ी दूर कहां ? श्रीमती भागीरथी देवी पास हैं, तो दिल दूर कहां जा सकता है ?"

पवित्र प्रेम की इस सादगी पर रसिक जी लोट-पोट हो गए। उन्होंने भागीरथी के मुंह की तरफ़ देखा फिर उस के कंधे पर हाथ रख कर कहा:—"अब बहुत निकट है।"

भागीरथी ने लजाकर सिर झुका लिया और बोली,—"जाओ हटो ! तुम बड़े शरारती हो । "हम अपनी कविता पढ़ेंगी।"

यह कहकर भागीरथी ने पत्रिका के पन्ने उलट कर देखा, और पति की कविता पढ़ने लगी।

(३)

एकाएक मुंशी जी ने पत्रिका भागीरथी के हाथ से ले ली और कहा,—"तुम ने देखा, सम्पादक महाशय ने इस स्त्री की कितनी प्रशंसा की है ?"

भागीरथी—"नहीं, मैंने नहीं देखा, क्या लिखा है ?"

ईश्वर सरण—"सम्पादक महाशय लिखते हैं—

'हम देवी व्रजकुमारी की यह पहली रचना हिन्दी-संसार के सम्मुख रखते हुए बड़े खुश हैं और हमें अभिमान है कि ऐसी उच्च-कोटि की लेखिका का हिन्दी-संसार से परिचय कराने का शुभ-अवसर हमें प्राप्त हुआ है। अगर दिन चढ़ने पर सूरज की पहली किरण देखकर उस के बाद के प्रकाश के सम्बन्ध में भविष्यद्वाणी की जा सकती है तो यह कहने में हमें ज़रा भी संकोच नहीं कि यह देवी बहुत जल्द हिन्दी-

साहित्य-संसार की रानी कहावेगी........ ।"

भागीरथी—'बस, पुरुषों में यही तो दोष है । प्रशंसा करते हैं तो आकाश पाताल एक कर देते हैं । और इस का कारण केवल यह है कि वह स्त्री है, किसी पुरुष के लिए यह शब्द कभी न लिखे जाते ।"

ईश्वर सरण—"तुम्हारा ख़्याल वास्तव में ठीक है ।"

भागीरथी—"कविता बुरी नहीं है । मैं पहले ही प्रशंसा कर चुका हूं । परन्तु ज़रा अपनी रचना देखो, 'गङ्गा के घाट पर'—उस के सामने यह क्या चीज़ है । (मुंह बनाकर) अगर दिन चढ़ने पर सूरज की पहली किरण देखकर उस के बाद के प्रकाश...... । जी चाहता है, सम्पादक सामने आ जाए तो मुंह पर थप्पड़ दे मारूं ।"

ईश्वर सरण—(हंसकर) "तुम तो चंडिका बन गई ।"

भागीरथी—'तुम हंसते हो, मुझे ऐसी बातों पर ज़हर चढ़ जाता है । पहले तगादे कर-कर के कविता मंगवा लेते हैं, फिर अपमान करते हैं । तुम ऐसी पत्रिकाओं में कविता न भेजा करो, कौन-सी थैलियां खोल देते हैं ।"

ईश्वर सरण—'भागीरथी ! तुम क्यों नहीं लिखतीं । लिखो तो तुम्हारी भी इसी तरह प्रशंसा हो ।"

भागीरथी—"न महाराज ! मुझे ऐसी प्रशंसा की ज़रूरत नहीं ।"

ईश्वर सरण–"भागीरथी! अब तुम्हें ना नहीं करने दूंगा। तुम्हें लिखना होगा।"

भागीरथी—"परन्तु लिखना आता भी तो हो!"

ईश्वर सरण—"आता क्यों नहीं। जब मुझे पत्र लिखती हो तो उस में कैसी सुन्दरता, कैसी मोहनी होती है। और भावों का माधुर्य! वाह वा, क्या कहना! बस, यही बात कविता में कह दो।"

भागीरथी—"यह काम पुरुषों का है, स्त्रियों का नहीं।"

ईश्वर सरण—"वाह! स्त्रियों का कैसे नहीं। यह ब्रज-कुमारी स्त्री है या नहीं? कैसा अच्छा लिखती है?"

भागीरथी—"मैं तो जानूं, उस के पति ने लिख कर उस के नाम से भेज दी होगी। तुम चाहो, तुम भी लिख दो। मना कर जाऊं तो जो काले चोर की सज़ा, वह मेरी।"

ईश्वर सरण–"हंसी छोड़ो। बोलो, लिखोगी या नहीं?"

भागीरथी–"तुम लिख दो, मैं कापी कर के भेज दूंगी।"

ईश्वर सरण—"यह शिक्षा मुझे गुरू ने नहीं दी।"

भागीरथी–"लोग कहेंगे, भागीरथी ब्रजकुमारी से भी बढ़ गई।"

ईश्वर सरण–"ख़्याल में प्रसन्न हो लो।"

भागीरथी—"सम्पादकीय टिप्पणियां पढ़ कर आनन्द आ जाएगा।"

ईश्वर सरण–"पहले लिख तो लो, फिर यह भी सोच लेना।"

भागीरथी—"अरे ! अपने लिए इतना कुछ लिखते हो, क्या थोड़ा-सा मेरे लिए न लिख दोगे ? सोचते होगे, यह मशहूर हो गई, तो मुझे कौन पूछेगा ? पर अब मैं तुम्हारा पीछा न छोड़ूंगी।"

ईश्वर सरण ने स्त्री की तरफ सरोष आंखों से देखा और सिर झुका लिया।

(४)

अब भागीरथी के सिर पर एक ही धुन सवार थी। हर समय ईश्वर सरण से लड़ा करती, तुम कैसे संकुचित हृदय हो, एक कविता भी नहीं तैयार कर देते। बड़ा प्यार जताया करते हैं, मानो मुझ से बढ़कर इन्हें किसी का ख़्याल ही नहीं। मगर ज़रा-सी बात कही है वह भी नहीं मानते। मैं लिखना जानती तो गिन-गिनकर आधी कविताएं तुम्हारे नाम से लिख देती। मगर तुम मेरा ज़रा ख्याल नहीं करते। मर्द कैसे स्वार्थी होते हैं। स्त्रियां उनके लिए अपना तन-मन सब कुछ निछावर कर देती हैं, उन्हें परवा ही नहीं। ईश्वर सरण कहते भागीरथी तुम पागल हो गई हो क्या ? मुझ से यह कभी न होगा। कीर्त्ति की इच्छा है तो परिश्रम करो, यह क्या कि दुःख सहे बी फ़ाखता और कौआ अंडे खाय। परिश्रम मैं करूं, शोहरत तुम कमा लो। भागीरथी यह सुनती और रोने लगती। हम स्त्री की लाल आंखें देख सकते हैं, पर उस की

सजल आंखें नहीं देख सकते। उस समय हमारा दिल दया का सागर बन जाता है। ईश्वर सरण भी नरम पड़ जाते। सोचते, कैसी मूर्खता की, इसे यह ख़याल न देते तो आज यह कलह न देखनी पड़ती। उन्हों ने जिसे कम्बल समझा था, वह रीछ निकला। अब वह कम्बल को छोड़ते थे, कम्बल उन्हें न छोड़ता था। एक तरफ कवि-हठ था, दूसरी तरफ़ त्रिया-हठ। कई दिन के संग्राम के बाद वही हुआ, जो इस नीले आकाश तले होता आया है। पुरुष का निश्चय स्त्री की इच्छा के सामने पानी पानी हो गया। बर्फ का टुकड़ा कितना ही कठोर क्यों न हो, सूरज की नर्म और गर्म किरणों के सामने कब तक ठहर सकता है?

एक वर्ष के बाद भागीरथी का नाम हिन्दी-जगत में बच्चे-बच्चे की ज़बान पर था। उस की कमनीय कृतियां देख कर कवि एक दूसरे से पूछते,—"यह कौन है? कुछ ही महीनों में कहीं-से-कहीं जा पहुंची। एक वर्ष पहले इस का नाम भी कोई न जानता था, आज चारों ओर इस की चर्चा है। व्रज-कुमारी का नाम उस के सामने फीका पड़ गया, जैसे सूरज निकलने पर चांद फीका पड़ जाता है। लोग उस की कवि-ताओं की प्रतीक्षा करते रहते थे। स्त्री-शिक्षा के पक्ष-पाती कहते—देखा! एक स्त्री ने सारे मर्दों के दांत खट्टे कर दिए। क्या अब भी वही पुरानी रट लगाए जाओगे कि स्त्री जाति को विधाता ने केवल घर के आंगन में काम करने के लिए

उत्पन्न किया है। विरोधी उत्तर देते—सच पूछो, तो इन कविताओं में धरा ही क्या है? इसी की एक कविता ले कर उस के नीचे किसी पुरुष का नाम लिख दो, फिर देखो, क्या होता है। कोई बात भी न पूछे। जैसे और साधारण लेख छप जाते हैं, वैसे ही वह भी छप जाए। स्त्री का नाम ही इन का सब से बड़ा गुण है। और जनाब हमारा तो यहां तक ख़्याल है कि यह किसी मनचले मर्द ही की करतूत है।

उधर भागीरथी के पांव भूमि पर न पड़ते थे, जिस पत्र को उठाती, उसी में अपनी प्रशंसा पाती। उस समय उसे ऐसा मालूम होता था, मानो किसी ने राज-सिंहासन पर बिठा दिया है। ईश्वर सरण की दिन-रात खुशामदें करती रहती थी। वह जरा-से रूठ जाते तो सौ-सौ तरह से मनाया करती। दूध देनेवाली गाय की लातें भी खानी पड़ती हैं। मगर ईश्वर सरण उस से नाराज़ न होते थे, स्त्री की प्रशंसा पढ़ते, तो फूले न समाते। हम अपनी प्रशंसा सुनकर इतने खुश नहीं होते, जितने अपनी स्त्री की प्रशंसा सुनकर खुश होते हैं। पराए के मुंह से उस की योग्यता का बखान सुनकर हम ब्रह्मानन्द में लीन हो जाते हैं, हम किसी दूसरे प्रकाश-पूर्ण लोक में पहुंच जाते हैं। परन्तु कभी-कभी भागीरथी किसी अज्ञात भय से कांप उठती थी। उसे ऐसा मालूम होता था कि मैं आकाश से गिरनेवाली हूं। मेरा काव्य-रहस्य प्रकट हो जानेवाला है। एकान्त में बैठती तो सोचती, कौए

ने हंस के पर लगा रखे हैं। इस समय नाचता है, गाता है, प्रसन्न होता है और जङ्गल के दूसरे पंछी उसे ईर्ष्या की दृष्टि से देखते हैं। मगर इस झूठ सौंदर्य की आयु कितने दिन है? यह मकर कब तक चलेगा? लेकिन फिर भी वह रसिक जी से तगादे करती थी और अपने लिए लिखा लेती थी, जैसे शराबी शराब को बुरा समझ कर भी उस का परित्याग नहीं कर सकता। कीर्त्ति का नशा शराब के नशे से भी तेज़ है। शराब छोड़ना आसान है, कीर्त्ति छोड़ना आसान नहीं।

परन्तु भागीरथी कौन है? अभी तक यह रसिक जी को छोड़कर किसी को भी पता न था। उस की कविता पढ़नेवालों की संख्या हज़ारों तक पहुंच गई थी, पर उसे जाननेवाला कोई भी न था। रसिक जी ने इस बात का पूरा पूरा ख़्याल रखा था कि भागीरथी का पता किसी को भी मालूम न हो। यहां तक कि सम्पादकों को भी कुछ पता न था। उन्हें कविताएं मिल जाती थीं और वह प्रकाशित कर देते थे। मगर शोहरत देर तक परदे में नहीं ठहरती, जिस तरह पंछी का बच्चा पर निकलने पर घोंसले में नहीं रहता। शोहरत के भी पर होते हैं। कुछ देर बाद यह रहस्य प्रकट हो गया कि भागीरथी रसिक जी की स्त्री है। समाचार पत्रों को नई बात मिल गई। मुंशी जी को इस सौभाग्य पर बधाइयां मिलने लगीं। परन्तु वह दिल-ही-दिल में कांप रहे थे, एक बात खुल गई,.क्या दूसरी भी खुल जाएगी?

(५)

उन्हीं दिनों में रसिक जी को दफ़्तर के काम पर पञ्जाब की तरफ़ जाना पड़ा। भागीरथी उदास हो गई। उस की आंखों में पानी आ गया। प्रेम वियोग से बहुत घबराता है। वियोग को सामने देखकर उस का लहू सूख जाता है। भागीरथी सोचने लगी, अकेली कैसे रहूंगी? यह वियोग के दिन किस तरह बीतेंगे? मुंशीजी का दफ़्तर से आने का समय होता तो द्वार पर जा खड़ी होती थी, अब क्या करूंगी?

मगर नौकरी का मामला था, क्या हो सकता था। मुंशी जी ने कहा,—"थोड़े दिनों की बात है, मैं जल्द लौट आऊंगा।"

भागीरथी—"एक प्रण करो, जब जाने दूंगी।"

ईश्वर सरण—"क्या?"

भागीरथी—"यह कि हर शहर से पत्र लिखूंगा और हर रोज लिखूंगा। उदास दिल प्रतीक्षा में लगा रहेगा।"

ईश्वर सरण—"बड़ी बेढब शर्त है, पर ख़ैर, मंजूर! कुछ और?"

भागीरथी—"कायस्थ-कन्या-पाठशाला का वार्षिकोत्सव होने वाला है। उस दिन मिसेज़ लालबिहारी लाल आई थीं। कहती थीं, उस दिन इनाम तुम बांटोगी। मैंने बहुत कहा कि मैं इस पदवी के योग्य नहीं, मगर वह नहीं मानीं। अब वहां कोई कविता पढ़नी पड़ेगी।"

ईश्वर सरण के मुंह पर प्रसन्नता की आभा आ गई, मुस्करा कर बोले,—"तो अब प्रधान बनोगी? तुम ने पहले क्यों न बताया?"

भागीरथी—"क्या करूं जी घबरा रहा है। मिसेज़ लाल-बिहारी लाल एक नहीं सुनतीं।"

ईश्वर सरण—"पर दिल में खुश हो रही होगी।"

भागीरथी—"मैं झूठ नहीं बोलती। गङ्गा जी की सौगन्ध, मेरा दिल कांप रहा है। वहां मर्द भी होंगे, कैसे बोलूंगी। परमेश्वर लाज रख ले, यही बड़ी बात है।"

ईश्वर सरण—"खूब रखेगा। अब तो स्त्रियां व्याख्यान भी देने लगीं तुम कविता भी न पढ़ सकोगी क्या? भागीरथी ज़रा सोचो! स्त्री और पुरुषों में कितना भेद है? हम कई सालों से तपस्या कर रहे हैं, किसी ने तमग़ा भी न दिया, तुम्हारी चार कविताएं प्रकाशित हुईं, तुम प्रधान बनने लगीं!"

भागीरथी ने प्रेम-पूर्ण आंखों से पति की ओर देखा और कहा—"सच कहते हो यह सम्मान मेरा है या तुम्हारा?"

ईश्वर सरण—"तुम्हारा है मेरा नहीं, मैं तो भगवान से यह प्रार्थना करता हूं कि मुझे अगले जन्म में स्त्री का जन्म दे और पति कवि हो।"

भागीरथी—'फिर क्या होगा।"

ईश्वर सरण—"प्रधान तो बनेंगे! अच्छा अब मुझे क्या आज्ञा है।"

भागीरथी—"कोई अच्छी-सी कविता भेज देना, ज़रा जल्दी। कहीं ऐसा न हो, तुम भूल जाओ और यहां सारा गुड़ गोबर हो जाए। रूमाल में गांठ बांध लो, फिर न भूलोगे।"

ईश्वर सरण—"रूमाल में गांठ बांधने की क्या ज़रूरत है। यहां हृदय-पट पर नोट हो गया।"

इस के बाद ईश्वर सरण ने भागीरथी को गले लगाया और बाहर निकल आए। भागीरथी दरवाज़ा पकड़ कर खड़ी हो गई, और सजल आंखों से पति की ओर देखती रही।

कुछ दिनों के बाद कविता आ गई—"भविष्य का प्रकाश।" उसे पढ़ कर भागीरथी भूमि से उछल पड़ी। यह कविता साधारण कविता न थी। इस में सुन्दरता थी इस में माधुरी थी। इस में नवीनता थी, इस में कल्पना थी। इस में भाव था, इस में रस था। और सब से बढ़ कर यह कि इस में हृदय था। भागीरथी को विश्वास हो गया कि वार्षिकोत्सव के दिन लोग खुश हो जाएंगे और जब यह कविता प्रेस में गई तो साहित्य-संसार चकित रह जाएगा। मेरे नाम से कविताएं बहुत छपी हैं, पर ऐसी अद्भुत और अपूर्व कविता आज तक नहीं छपी। यह कविता नहीं काव्य-जगत की शोभा है। इस समय उसे पति के महत्व का पूरा पूरा अनुभव हुआ। पता नहीं किन जतनों से लिखी होगी, इस के लिए कितनी रातें जागे होंगे। ऐसी चीज़ें कौन किसी को देता है। परन्तु मुहब्बत त्याग की मां है, जहां जाती है, बेटी को साथ ले जाती है।

भागीरथी ने मन-ही-मन में अपने त्याग-वीर और उदार-हृदय पति को नमस्कार किया और कविता गले से लगा ली।

उत्सव के दिन हाल में तिल धरने को जगह न थी। फ़र्श, गैलरी, प्लैटफार्म सब भरे हुए थे। इस से पहले पुरुष थोड़ी संख्या में सम्मिलित होते थे, परन्तु इस वर्ष पुरुष स्त्रियों से भी अधिक थे। और यदि स्त्रियों को उठाना सम्भव होता तो जो स्त्रियां आई थीं, पुरुष उन को भी उठा देते! यह सब लोग कविता सुनने नहीं आए थे, लगभग आधे से भी ज्यादा संख्या उन महानुभावों की थी, जो केवल इस उद्देश्य से आए थे कि चलो भागीरथी देवी को देखने ही चलें। नाम सुना है, शक्ल-सूरत नहीं देखी। देखें कैसी स्त्री है, जिस की इतनी प्रशंसा हो रही है।

सहसा एक तरफ़ से शोर उठा, लोग इधर-उधर देखने लगे। जो पीछे बैठे थे, वे खड़े हो गए। जो खड़े थे वह आगे खिसकने लगे। प्रबन्धकर्ताओं ने चिल्ला-चिल्ला कर कहा सज्जनो! शान्ति से बैठे रहो। मगर कौन सुनता था, खलबली मच गई। कोई कहता था भागीरथी देवी आ गईं। कोई कहता था, रेला है, बाहर आदमी-ही-आदमी खड़े हैं, इन को खुली जगह का प्रबन्ध करना चाहिए था। एक बेंच पर बहुत-से आदमी खड़े थे वह टूट गई। स्त्रियों की तरफ से बच्चे रोने लगे।

एकाएक हाल में सन्नाटा छा गया। लोगों ने देखा कि

मिसेज़ लालविहारी लाल के साथ एक युवा स्त्री कश्मीरी साड़ी पहने आ रही है। उस का सिर झुका हुआ था और वह बड़ी सावधानी से बचा-बचाकर पांव उठाती थी। उस के चेहरे पर विनय था। परन्तु यह विनय अहंकार से भी अभिमान-पूर्ण था। लोगों ने तालियां पीटकर हर्ष प्रकट किया—यही भागीरथी देवी थीं।

पहले प्रस्ताव और इस के बाद अनुमोदन हुआ। भागीरथी ने उठकर प्रधान-पद स्वीकार किया और लड़कियों को इनाम बांटने लगी। इस समय उस के हृदय की जो दशा थी; उसे वही अनुभव कर सकता है, जिसे स्वयं कभी यह सम्मान प्राप्त हो चुका हो, दूसरे लोग उस के मनोभाव को नहीं समझ सकते। आख़िर यह कार्यवाही, जो इनाम लेनेवाली बालिकाओं और उन के माता-पिता के सिवाय और किसी को भी रुचिकर न थी, समाप्त हुई और भागीरथी देवी सम्भाषण के लिए खड़ी हुई। अब उस के चेहरे पर गम्भीरता थी, संकोच न था। उस ने चारों तरफ देखा और फिर वह कहना आरम्भ किया, जो ऐसे अवसर पर हरएक आदमी कहता है—आप ने मुझे जो सम्मान प्रदान किया है, मैं वस्तुतः उस के योग्य नहीं। मुझ से योग्य देवियां इसी कानपुर में मौजूद हैं, जिन के सिर के बाल महिला-समाज की सेवा करते-करते सफ़ेद हो गए। मैं आप को किस मुंह से धन्यवाद दूं, जो आप ने मिट्टी की चुटकी को मस्तक पर

चढ़ा दिया है...... ।

लोगों ने चिल्लाकर कहा,—"कविता !"

भागीरथी—"मेरे ख़्याल में इस समय कविता की कोई आवश्यकता नहीं। बड़ी देर हो गई है।"

जन-समूह से आवाज़ें आईं—"बिलकुल नहीं । हम देवी जी की कविता सुन कर जाएंगे।"

अब भागीरथी ने कविता निकाली और उसे पढने लगी। लोग मुग्ध हो गए । यह कविता न थी, मोहनी-माया थी और इस पर भागीरथी के पढ़ने का ढंग, सोने पर सुहागा था। एक-एक पद पर वाह-वा का शोर होने लगा। जो न समझते थे, वह भी झूमते थे, कहीं ऐसा न हो, दूसरे लोग उन्हें मूर्ख समझ लें। भागीरथी के दिल में जो जो भ्रम, जो जो वहम थे, सब निर्मूल सिद्ध हुए। ऐसी अकथनीय सफलता उस के ख़्याल में भी न थी। सब आंखें उस की तरफ देख रही थीं, सब कान उस की आवाज़ सुन रहे थे। भागीरथी अपनी कविता को और भी जोश से, और भी लगन से पढ़ने लगी। हम ज्यों-ज्यों सफल काम होते जाते हैं, हमारा पुरुषार्थ बढ़ता जाता है।

इतने में उस की दृष्टि श्रीमती लालबिहारी लाल की तरफ़ गई। वह कागज़ के एक टुकड़े को बड़े ध्यान से देख रही थीं। भागीरथी का लहू सूख गया, जैसे फूलों के ढेर में नाग नज़र आ जाए। यह उस के पति का पत्र था, जो उन्होंने

पटियाले से कविता के साथ भेजा था, जिस में उन्हों ने अपनी कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी, और जिसे भागीरथी की भेंट किया था। भागीरथी को यह कागज़ जुदा करना याद न रहा था। कविता पढ़ने के आवेश में पिन उतर गया और वह पत्र नीचे गिर पड़ा। और अब यह रहस्य—

भागीरथी का सिर घूमने लगा। उस ने जल्दी से कविता समाप्त की और नीचे उतर आई। पुरुष श्रद्धा-भाव से तालियां बजा रहे थे, स्त्रियां आश्चर्य से "अपने ही जैसी" मगर "दूसरी तरह" की एक महिला के चेहरे की तरफ़ देख रही थीं और भागीरथी का दिल भय, सन्ताप और घृणा से धड़क रहा था। जब लोग चले गए तो वह मिसेज़ लालबिहारी लाल को खींचकर साथ के कमरे में ले गई और आंखों में आंसू भरकर बोली,—"मेरी लाज अब तुम्हारे हाथ है। चाहे रखो, चाहे मिट्टी में मिला दो।"

मिसेज़ लालबिहारी लाल ने वह पत्र भागीरथी को लौटा दिया और कहा,—"मेरे मुंह से इस मामले में एक भी शब्द न निकलेगा।"

और उस ने अपना वचन पूरा किया। भागीरथी ने लिखना बन्द कर दिया।

(६)

परन्तु ब्रजकुमारी की कविताएं पूर्व-वत् प्रकाशित होती

रहीं। भागीरथी उन्हें देखती थी और ठंडी आह भर कर रह जाती थी अब उस के दिल में जलन न थी, जो किसी कच्चे कवि के हृदय में दूसरे कवि को देख कर होती है। उस का स्थान संतोष ने ले लिया था, जो हारे हुए जुआरिओं का अंतिम धन है। यह संतोष पर-कटे पक्षियों के समान न उड़ता है, न उड़ सकता है। वह नीले आकाश में उड़ते हुए दूसरे पक्षियों की ओर देखता है और चुप-चाप गर्दन झुका लेता है। धीरे-धीरे भागीरथी को सौंदर्य्य और संगीत के इस संसार की याद भी भूल गई। अब वह फिर वही घर के आंगन में घर का काम करने वाली भागीरथी थी।

एक दिन उस से मिलने को एक लड़की आई। अठारह-उन्नीस साल की आयु होगी। आंखों में मुस्कराहट थी, चेहरे पर तेज। भागीरथी ने सोचा, किसी स्कूल में पढ़ती होगी। बड़े आदर से बोली,—"आओ बहन!"

लड़की ज़ीने में ठिठक कर खड़ी थी। भागीरथी के वचन सुन कर उसे भी बोलने का साहस हुआ।

उस ने धीरे से कहा—"मुझे भागीरथी देवी से मिलना है, लखनऊ से आई हूं।"

भागीरथी,—"तो ऊपर आ जाइए, मैं ही भागीरथी हूं।"

लड़की एक पांव उठा कर फिर रुक गई। किसी के घर पहली बार जा कर हमारे पैर नहीं उठते, न मुंह से बात निक-

लती है। लड़की ने संकोच-भाव से कहा,—"मैं ब्रजकुमारी हूं। आप के दर्शन को आई हूं।"

और दूसरे क्षण में भागीरथी ने ब्रजकुमारी को गले से लगा लिया, जैसे दो बिछुड़ी हुई सखियां मिली हों। इस के बाद भागीरथी उसे बड़े आदर से अन्दर ले गई और चारपाई पर बिठा कर इधर-उधर की बातें करने लगी। घर-बार का परिचय हो चुका, तो भागीरथी ने कहा,—"बहन! तुम शायद विश्वास न करो, मगर मुझे तुम्हारी कविताएं बहुत ही पसन्द हैं। उन्हें पढ़ कर मैं किसी दिव्य लोक में पहुंच जाती हूं। पुरुष-समाज समझता था, यह साहित्य-क्षेत्र केवल हमारे लिए है, तुम ने उन का ख़्याल बदल दिया। तुम धन्य हो, तुम ने स्त्री-जाति की लाज रख ली!"

ब्रजकुमारी—"यह आप की सज्जनता है, वर्ना आप के सम्मुख मैं कुछ भी नहीं। आप की कविताएं आज भी याद आती हैं तो तबीयत हरी हो जाती है। ज़रा हाथ लाना, चूम लूं।"

भागीरथी—(लजा कर) "मगर मैंने तो अब लिखना ही छोड़ दिया।"

ब्रजकुमारी—"पर क्यों, यही पूछने के लिए तो मैं आई हूं।"

भागीरथी—"अब क्या बताऊं?"

ब्रजकुमारी—"कहीं रसिक जी ने रोक तो नहीं दिया। शायद सोचते हों, पार्वती के सामने महादेव को कौन पूछेगा।?"

भागीरथी—"वे ऐसे स्वार्थी नहीं। उन्हें जितना आनन्द मेरी कविताएं पढ़कर आता है, उतना आनन्द अपनी कविताओं में भी नहीं आता।"

ब्रजकुमारी—"तो क्या माना-पिता बुरा मानते हैं ?"

भागीरथी—"बिलकुल नहीं। तुम्हारे लखनऊ ही में तो रहते हैं। कभी जा कर मिलो, तो तुम्हें सिर आंखों पर बिठा लें। वे तो स्वयं कहते हैं, कि स्त्रियों को साहित्य-संसार से परे रखना देश के साथ सब से बड़ा अन्याय करना है।"

ब्रजकुमारी—"तो फिर इस मौन-धारण का कारण क्या है ?"

भागीरथी चुप हो गई। सोचती थी क्या कहूं, क्या न कहूं ? पहले सोचा साफ़-साफ़ कह दूं, यहां लिखना जानता ही कौन है ? वह सब झूठ के महल थे। वे लिखते थे, मैं अपने नाम से भेज देती थी। चार दिन चमड़े के सिक्के चल गए। अब सदा को वही मकर कैसे चलता रहे। मगर फिर ख़्याल आया, इस के दिल में मेरी कितनी श्रद्धा है। यह सुन कर मेरी इज़्ज़त दो कौड़ी की भी न रहेगा। इसे अचरज होगा। यह चौंक उठेगी। यह सोचेगी कैसी नीच स्त्री है, जग को धोखा देती रही। इस समय कैसे गर्व से बैठी हूं। यह कहकर सिर झुक जाएगा। सत्य-भाषण कितना कठिन है ? भागीरथी ने ब्रजकुमारी की ओर देखा और उत्तर दिया,—"बहन ! दुनिया के धंधे ही कुछ करने नहीं देते।"

ब्रजकुमारी—"तुम्हारा यह उत्तर संतोष-जनक नहीं। मर्द कैसे समय निकाल लेते हैं?"

भागीरथी—"और यदि मैं कहूं कि काव्य-जगत से जी ऊब गया, तो फिर?"

ब्रजकुमारी—"जी कैसे ऊब गया। कविता वह वस्तु नहीं, जिस से कवि का जी ऊब जाय। हरे-भरे जंगल, रमणीक घाटियां, चन्द्रमा की सुशीतल चांदनी, झरनों का मनोहर दृश्य बाल्यावस्था के सुनहरे दिन, पंछियों का कलरव, इन में से क्या कोई भी वस्तु ऐसी है जिस से किसी प्रकृति उपासक का जी ऊब जाय? फिर कैसे सम्भव है कि किसी का दिल काव्य-जगत से जहां मन को मोह लेनेवाले यह तमाम मंजुल पदार्थ चप्पे-चप्पे पर उपस्थित हैं, ऊब जाय? नहीं बहन! यह असंभव है। यह कभी नहीं हो सकता। यह कभी नहीं होता। मुझ से प्रतिज्ञा करें कि अब आप लिखेंगी। आप का न लिखना स्त्री-जाति की अकथनीय हानि है।" ब्रजकुमारी बोलती जाती थी, और भागीरथी उस के मुंह की तरफ टकटकी बांधकर देख रही थी। भागीरथी को अब तक यही सन्देह था कि यह भी किसी से लिखाती होगी। परन्तु सुधा और संगीत के चार शब्द सुनकर उस की सम्मति बदल गई। यह बनावट न थी, उस के सुन्दर हृदय का उद्गार था। भागीरथी को विश्वास हो गया कि यह

वास्तव में कवि है। उस ने सिर झुका कर कहा,—"तुम तो बात-चीत में भी कविता करती हो तुम ने दो शब्द बोले, मुझे कविता का स्वाद आ गया।"

ब्रजकुमारी—"जब लिखना आरम्भ किया, तो एक-एक शब्द के लिए घण्टों परेशान रहना पड़ता था, उस समय मालूम होता था, मानो यह बेल मंढे न चढ़ेगी। परन्तु अब तो पद-के पद सामने आ जाते हैं।"

थोड़ी देर बाद ब्रजकुमारी फिर आने की प्रतिज्ञा कर के चली गई, मगर उस के अन्तिम शब्द भागीरथी के कानों में गूंज रहे थे। सोचती थी, अगर यह लड़की लगातार परिश्रम से इस पदवी को पहुंच सकती है तो क्या मैं ही गई-गुज़री हूं। वह तो कई बार कह चुके हैं कि तुम में वह वस्तु है जो कविता का प्रधान अङ्ग है, यत्न करो तो सफल होना आवश्यक है। मगर मैं ने उलटा मार्ग पकड़ा और आज······

भागीरथी को अपनी आयु का भूला और भुलाया हुआ युग याद आ गया। वही सङ्गीत, वही सुधा, वही माधुरी, वही अनन्त यौवन, वही न मरने वाला सौंदर्य, न समाप्त होने वाला वसन्त, न मुरझाने वाले फूल। वह उस दुनिया में जाने को छटपटाने लगी, जैसे बालक को मेले का दृश्य याद आ जाए। भागीरथी बहुत देर तक चुपचाप बैठी सोचती रही। इस के बाद उस ने सुदृढ़ संकल्प से हाथों की मुट्ठियां

कस लीं और ऊंची आवाज़ से कहा,—"आज तक मैं कविताएं लिखवाती थी, अब स्वयं लिखूंगी।"

रसिक जी साथ की कोठरी में थे। यह शिव-संकल्प सुना तो बाहर निकल आए और हंस कर बोले,—"तथास्तु!"

भागीरथी ने लजा कर सिर झुका लिया।

काया-पलट

(१)

गाड़ी ने सीटी दी, और धीरे धीरे चलने लगी।

ड्योढ़े दर्जे के एक जनाना डिब्बे में बैठी हुई रत्ता ने घूंघट की आड़ से बाहर की तरफ देखा, और दीर्घ निश्वास लिया प्रातःकाल गांव छूटा था, अब जिला भी छूट गया। रत्ता ने नीचे का होंट दांतों तले दबा कर सिर झुका लिया, और सोचने लगी देखें अब फिर कब आना हो। इस समय बाप आंगन में बैठा होगा। मां रसोई घर में होगी। भाई खेल रहे होंगे। एक तर्फ गऊ बंधी होगी। उस को ऐसा मालूम हुआ जैसे बाप ने घड़ी निकाल कर समय देखा है और कहा है, अब रत्ता गाड़ी में होगी। फिर उस को ऐसा मालूम हुआ कि मां की आंखें सजल हो गई हैं और वह दुपट्टे के आंचल से आंसू पोंछ रही है। रत्ता को घर की एक एक बात याद आ कर व्याकुल करने लगी। चलते समय मां ने किस तरह उसे गले लगा कर प्यार किया था ? किस तरह फूट फूट कर रोई थी ? जिस समय उस ने रत्ता के पति से कहा – बेटा !

अब यह तुम्हारे सुपुर्द है, हमारा अधिकार आज से समाप्त हुआ, उस समय उस की आवाज़ किस तरह कांप रही थी ? उस ने कैसे हृदय-ग्राही शब्दों में कहा था, हम ने इसे बेटों के समान पाला है इस का दिल न दुखाना। यह बातें याद कर कर के रत्ना का दिल भर आया। उस ने अपना सिर गाड़ी के साथ लगा लिया और रोने लगी।

गाड़ी तेज़ हो गई थी। वृक्ष, खेत, तार के खम्बे इस तरह उड़े चले जाते थे, जैसे कोई अपने प्यारे से मिलने जा रहा हो। रत्ना ने अपने दिल को संभाला और घूंघट का एक कोना थोड़ा सा उठा कर इधर-उधर देखा। डिब्बे में केवल एक ही स्त्री और थी। बीस-बाईस वर्ष की आयु होगी, गोरा रंग, गोल चेहरा, लम्बी गर्दन। शक्ल-सूरत से रोआब टपकता था। इतने में उस की आंखें भी इधर उठ गईं। रत्ना चौंक पड़ी—यह सावित्री थी; उसी के गांव की रहने वाली। उस का विवाह हुए अभी चार ही वर्ष हुए थे, मगर इतने ही थोड़े समय में वह कितनी बदल गई थी। उसे देख कर किसी को ख़्याल भी न हो सकता था कि वह गांव की रहने वाली होगी। चेहरे पर कैसी गम्भीरता थी, आंखों में कैसी ज्योति, जैसे कोई रानी हो। रत्ना उसे थोड़ी देर चुप-चाप देखती रही, इस के बाद उठकर उस के पास चली गई और बोली—"वाह बहन! इतनी जल्दी भूल गईं! पहचानती भी नहीं।"

सावित्री ने उस की तरफ देखा और उसे गले लगा कर बोली—"अरी मेरी रत्ना ! तू कहां से आ गई। उस कोने में जो पार्सल-सा पड़ा था, क्या तू उसी में से निकली है। आ एक बार फिर गले मिल लें। (गले मिलने के बाद) वाह मेरे पार्सल ! तू किधर जा रहा है ?"

रत्ना—"तुम्हारे पार्सल का ब्याह हो गया।"

सावित्री—"यह तो साफ दिखाई दे रहा है। वर्ना जंगल की यह बंदरिया तो मुंह छिपाकर इस तरह बैठने वाली न थी। मालूम होता है, पहली बार जा रही हो।"

रत्ना—"हां बहन पहली बार ! ब्याह तो दो साल हुए, हो गया था, गौना अब हुआ है।"

सावित्री—(मुस्करा कर) "कहां ब्याह हुआ है ?"

रत्ना—(सिर झुकाकर धीरे से) "स्यालकोट।"

सावित्री—"बहनोई जी क्या करते हैं ?"

रत्ना—"लाहौर में नौकर हैं ?"

सावित्री—"लाहौर में ! (मुस्करा कर) तब तो प्रायः मुलाकात होती रहेगी। हम भी वहीं रहते हैं। बहनोई जी कैसे हैं, बदसूरत तो नहीं।"

रत्ना—(सिर झुका कर) "मुझे क्या मालूम ? मैं ने उन्हें देखा थोड़ा है।"

सावित्री—"और जो वह कहीं खो जाएं तो क्या करो ? कैसे ढूंडो ?"

रक्षा—"तुम्हें बुलवा भेजूं, और क्या करूं ? आओगी न।

सावित्री—"श्रद्धा से बुलाओगी, तो दौड़ती हुई आऊंगी।"

रक्षा—"ख़ैर तुम अपनी सुनाओ। क्या हाल है ?"

सावित्री—"बहन ! परमात्मा की कृपा से कोई तकलीफ नहीं। वकालत करते हैं, तीन चार सौ रुपया आ जाता है। स्वभाव इतना मीठा है कि तुम से क्या कहूं। जब देखो; मुंह गुलाब के समान खिला हुआ है। ख़फ़ा होना तो जानते ही नहीं। मुझे पूरी पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है। कहीं जाऊं आऊं, ज़रा एतराज नहीं करते।"

रक्षा—'तो क्या तुम बाज़ारों में घूमती फिरती हो मेम साहब बन कर।"

सावित्री—(मुस्करा कर) 'तुम्हें शायद मालूम नहीं, वह परदा-प्रथा के घोर विरोधी हैं। (बक्स से एक पुस्तक निकाल कर) यह देखो, उन्हों ने यह पुस्तक लिखी है। इस में उन्हों ने सिद्ध कर दिया है कि परदा मूर्खता के समय की प्रथा है और स्त्रियों पर सब से बड़ा जुल्म है।"

रक्षा—"तो यह कहो, तुम को भी अंगरेज़ों की हवा लग गई।"

सावित्री—"मैं तो पहले ही इस के विरुद्ध थी।"

रक्षा—(पुस्तक का एक पन्ना उलट कर) "तो नंगे मुंह बाज़ारों में निकलते हुए तुम्हें लाज नहीं आती ? कोई अपना आदमी देख ले तो, क्या कहे। मैं तो मर जाऊं, जब भी यह

निर्लज्जता स्वीकार न करूं। तो दोनों हाथ में हाथ डालकर जाते होंगे और लोग हंसते होंगे।"

सावित्री—' तुम्हें एक और बात भी सुना दूं, उन्होंने एक सभा स्थापित की है, जिस का एकमात्र उद्देश्य यह है कि इस प्रथा को उठा दिया जाए। पंजाब के कई शहरों में उन के व्याख्यान हो चुके हैं। अगले मास स्यालकोट भी आएंगे। यदि कहो तो मैं भी चली आऊं। मगर एक शर्त है।"

रत्ना—"क्या ?"

सावित्री—"तुम्हें व्याख्यान की समाप्ति पर उठ कर कहना होगा कि परदा बुरी प्रथा है और मैं आज से इसे प्रणाम करती हूं।"

रत्ना—"मुझ से यह आशा न रखो। यदि केवल स्त्रियों की सभा हो तो मैं तुम्हारी वह गत बनाऊं कि उठकर भाग जाओ। एक मिनट भी न ठहरो।'

सावित्री—"बड़ी तीसमारख़ां हो! सभा में खड़ा कर दें, तो पसीना आ जाए ज़बान न खुले। बल्कि मेरा तो ख़्याल है, थर थर कांपने लगो।"

रत्ना ने ज़ोर से हंसकर कहा—"बहन! यह तो सोलह आने ठीक है। मगर क्या तुम वहां भी ताड़ ताड़ बोलती जाओ।"

सावित्री-"हर्ज क्या है? कोई मुंह में थोड़ा ही डाल लेगा?"

रत्ना—"परन्तु मैं तो एक शब्द भी न बोल सकूं। बोलना

चाहूं, जब भी मुंह न खुले। आदमी देखकर ही घबरा जाऊं।"

सावित्री—"और यह परदे का सब से बुरा परिणाम है। यह स्त्री जाति को बोदा बना देता है। इस से उन का साहस मर जाता है। उन की वीरता नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि यदि किसी ख़तरे में पड़ जाएं तो मर जाएंगी, जान दे देंगी, मगर उन से इतना न होगा कि डटकर खड़ी हो जाएं या शोर ही मचा दें।"

रत्ना—"और तुम क्या करो ?"

सावित्री—"कोई टेढ़ी आंखों से देख भी जाए, तो जूते मार मार कर सीधा कर दूं।"

रत्ना—"कहना आसान है, पर समय पर किसी की भी हिम्मत नहीं पड़ती। हाथ ही नहीं उठते।"

सावित्री—"अब अपने मुंह से क्या कहूं; हां यदि समय आए तो दिखा दूं कि हाथ उठते हैं या नहीं। अच्छा तो हमारे घर के सब लोग तो राजी खुशी हैं न।"

रत्ना—"बिलकुल।"

सावित्री—(गाड़ी रुकते देखकर) "वज़ीराबाद आ गया! तुम्हें यहां उतरना होगा। मैं तो सीधी लाहौर जाऊंगी। लो ख़त लिखना, मेरा पता पुस्तक में देख लेना।"

रत्ना अपने कपड़े ठीक करके खड़ी हो गई और मुंह पर घूंघट खींच लिया। सावित्री यह देखकर मुस्कराई और बोली—"तो स्यालकोट आऊं या न आऊं ?"

रत्ना—"न क्यों आओ, ज़रूर आओ। मैं अपना पता लिख भेजूंगी।"

इतने में गाड़ी एक झटके के साथ खड़ी हो गई। सावित्री ने कहा—"मगर मेरी शर्त याद है ना—भरी सभा में कहना होगा, परदा बुरा।"

रत्ना—(धीरे से) "पहले तुम किसी को सीधा करके तो दिखा दो, फिर मैं भी कह दूंगी, परदा बुरा, बल्कि परदे को दूर ही हटा दूंगी।"

और बात पूरी भी न होने पाई थी कि रत्ना का पति गाड़ी के सामने आ कर खड़ा हो गया। रत्ना ने घूंघट और भी नीचे खींच लिया और गाड़ी से उतर गई।

सावित्री ने हंस कर कहा—"कहीं गिर न जाइओ।"

सहसा कई स्त्रियां कमरे में आ गईं। सावित्री देखती रह गई।

उधर रत्ना लम्बा घूंघट निकाले मुसाफ़िरों के रेले में गिरती पड़ती अपने पति के पीछे पीछे रवाना हुई। युवक पति भीड़ को दोनों हाथों से इधर उधर हटाते हुए आगे बढ़ा जाता था। वह गरीब कभी कुली की तरफ देखता था, जो उस का असबाब उठाए आगे आगे चल रहा था, कभी स्त्री की तरफ देखता था, जो पीछे पीछे आ रही थी।

(२)

सहसा रत्ना के मुंह से हल्की सी चीख़ निकल गई। उस

ने बाएं हाथ से घूंघट को थोड़ा सा ऊंचा उठा कर देखा, परन्तु उसे अपना पति कहीं दिखाई न दिया। किधर चले गए? अभी तो आगे आगे जा रहे थे। मैं बराबर पीछे पीछे चल रही हूं। कहीं एक मिनट भी नहीं रुकी। फिर कहां गायब हो गए? कहीं पीछे तो नहीं रह गए। रत्ना ने मुड़ कर पीछे देखा, मुसाफ़िर दौड़ते हुए आ रहे थे। हर एक को जल्दी थी कि कहीं ऐसा न हो, गाड़ी निकल जाए, वह रह जाएं। मुसाफ़िरों की इस बाढ़ में रुकना आसान न था। रत्ना कहीं से कहीं जा पहुंची। तब वह हिम्मत कर के भीड़ से बाहर निकली और सिर झुका कर एक तरफ़ खड़ी हो गई। उसे आशा थी, पति खोज रहा होगा, मुझे देख कर इसी ओर चला आएगा। परन्तु कई मिनट बीत गए और उधर कोई भी न आया। रत्ना घबरा गई। क्या करे? अपने पति को कैसे ढूंढे? उस ने अभी उसे देखा भी न था, न उस के वस्त्र पहचानती थी। उसे केवल यह मालूम था कि पति बादामी रंग का बूट पहने है। देखते देखते कई आदमी बूटों वाले आए और तेजी से निकल गए, रत्ना के पास कोई भी न ठहरा। सारी गाड़ी में आदमी भरे थे। परन्तु रत्ना का आदमी कहां था? इतने में गाड़ी ने सीटी दी और इस के बाद चलने लगी। रत्ना को ऐसा मालूम हुआ जैसे यह गाड़ी नहीं जा रही, उस के प्राण जा रहे हैं, जैसे अब उस के लिए बचाव का कोई उपाय नहीं रहा है। देखते देखते प्लेटफ़ार्म

ख़ाली हो गया। कुली और खोंचे वाले भी दूसरे प्लेटफार्म पर चले गए। अभी वहां कितनी भीड़ थी, कितना शोर था, कान पड़ा शब्द सुनाई न देता था, मगर अब सिवाय एक बिछुड़ी हुई नव-विवाहिता युवती के कोई भी न था। रत्ना ने दीवार की ओर मुंह फेर लिया और अपने दुर्भाग्य पर रोने लगी।

सन्ध्या समय रेलवे का एक बाबू उधर से गुज़रा। वह ड्यूटी समाप्त कर के अपने घर जा रहा था। रत्ना को देख कर ठिटक गया। यह युवती कौन है? कोई पुरुष भी निकट नहीं। सारा प्लेटफार्म ख़ाली है, अकेली क्या कर रही है? एकाएक याद आया, मैं ने इसे दुपहर को भी यहां देखा था, उस समय भी कोई साथ न था। जरूर यह गाड़ी से रह गई है। बाबू धीरे धीरे आगे बढ़ा। रत्ना ने उस के पांव की चाप सुनी, तो चौंक कर सिर उठाया और बाबू के पांव की तरफ देखा, शायद बादामी बूटों वाला आ गया हो। परन्तु ऐसे भाग्य कहां? रत्ना ने ठण्डी आह भरी और फिर सिर झुका लिया।

बाबू—(रत्ना को सिर से पांव तक देख कर) "तुम यहां खड़ी क्या कर रही हो?"

रत्ना ने घूंघट और भी नीचे खींच लिया और उत्तर न दिया।

बाबू—"तुम्हारे साथ कोई मर्द भी है या नहीं?"

रत्ना ने सिर के इशारे से कहा—"नहीं।"

बाबू की आंखें चमकने लगीं, सिगरेट का कश लगा कर बोला—"तो तुम यहां अकेली कैसे आ गई? कहां से आ रही हो?"

रत्ना ने बहुत ही धीरे से उत्तर दिया—"गुजरात से।"

बाबू—"टिकट कहां है, दिखाओ। है, या नहीं?"

रत्ना को ऐसा मालूम हुआ जैसे मुंह सूख गया है, जैसे जीभ तालू से चिमट गई है। उस ने बोलना चाहा मगर शब्द गले में फंस गए। इस समय ख़्याल आया, कल आराम से अपने घर बैठी थी, आज........। रत्ना का गला रुंध गया।

बाबू—(ज़रा सख्ती से) "तुम्हारा टिकट कहां है? बोलती हो या नहीं।"

रत्ना थर थर कांपने लगी, बोली—"मुझ पर कृपा कीजिए भगवान् आप का भला करेगा।"

बाबू—(रोआब से) "टिकट लाओ, टिकट।"

रत्ना—(सिसकियां ले कर) "टिकट तो उन के पास है।"

बाबू—"तो उन को बुलाओ कहां हैं?"

रत्ना ने ठण्डी आह भरी और कहा—"अब, बाबू जी मुझे क्या मालूम कहां हैं? भीड़ में साथ छूट गया, फिर पता ही नहीं चला कि कहां चले गए।"

बाबू—"अजीब बात है कि पति अपनी स्त्री को यों छोड़ जाए। पर ख़ैर, हमें इस से क्या? किराया दो।"

बिल्ली के पंजे में फंस कर चूहे की भी ऐसी दशा न होती होगी, जो इस समय रत्ना की थी। ख़्याल आया कदाचित यहां सावित्री ही होती।

बाबू ने चारों तरफ़ देखा, बिलकुल सुन्सान था। तब उस ने रत्ना के पास खिसक कर धीरे से कहा—"कहो तो अपने पास से किराया दे कर रसीद काट दूं। क्या हर्ज है। हां, एक बार मुस्करा कर कह दो। हमारा दिल इतने ही में खुश हो जाएगा।"

रत्ना के कानों में मानो किसी ने गर्म सीसा उंडेल दिया। वह छोटी थी, परन्तु मूर्खा न थी। सब कुछ समझती थी। उस का जी चाहता था, उस पिशाच का मुंह नोच ले, अगर वस चले, तो गर्दन मरोड़ दे। मगर क्रोध होते हुए भी उस के हृदय में हिम्मत न थी। निर्बल को क्रोध चढ़ता है तो रोता है। इस से अधिक वह कर भी क्या सकता है? रत्ना भी रोने लगी।

(३)

एकाएक बाबू चौंक पड़ा। प्लेटफार्म के दूसरे सिरे पर कोई स्त्री आ रही थी। थोड़ी देर में वह आ कर इनके सामने खड़ी हो गई। रत्ना को हौसला हो गया, उस ने उस के कान के पास मुंह ले जा कर कहा—"बहन! मुझे बचाओ। यह दुष्ट………।

इस के आगे वह कुछ न कह सकी, परन्तु स्त्री ने सब कुछ समझ लिया। उस की आंखों से आग की चिङ्गारियां निकलने लगीं। उस ने बाबू को क्रोध-पूर्ण आंखों से देखा और कहा—"तुम्हारी अपनी मां-बहन कोई है, या नहीं?"

रक्षा उछल पड़ी—यह तो सावित्री है। उस की जान में जान आ गई, जैसे डूबते हुए को किनारा हाथ आ जाए। अब उसे कोई भय, कोई आशंका न थी। पहले सोचती थी, घर कैसे पहुंचूंगी, अब यह भी चिन्ता न थी। इस समय वह अपने आप को ऐसा सुरक्षित समझती थी, जैसे अपने घर में खड़ी हो, जैसे मां की गोद में बैठी हो।

सावित्री ने बाबू से डांटकर फिर पूछा—"तुम्हारे घर में मां-बहन कोई है, या नहीं, जो भले घर की बेटियों को तङ्ग करते हो?"

बाबू पर रोआब छा गया। जरूर यह किसी बड़े घर की स्त्री है, अजब नहीं पढ़ी लिखी भी हो। वर्ना ऐसी निर्भयता से कभी बात न करती। सोचने लगा, कैसे छुटकारा हो? थोड़ी देर बाद बोला—"मैंने तो केवल इतना ही कहा था कि या टिकट दिखाओ, या किराया दो। इस से ज्यादा एक शब्द भी नहीं कहा मगर यह इसी पर रोने लगी।"

सावित्री ने रक्षा के मुंह के पास कान ले जाकर पूछा—किराया ही मांगता था, या कुछ और भी कहता था।

रक्षा ने सावित्री के कान में बहुत ही धीरे से कहा—

"कहता था ज़रा मुस्करा के दिखा दो तो तुम्हारा किराया मैं दे दूं।" यह कहकर वह फिर रोने लगी।

सावित्री ने यह सुना तो उस की आंखों में खून उतर आया, बोली—"तुम्हारा नाम क्या है?"

बाबू—"तुम मेरा नाम पूछनेवाली कौन हो?"

सावित्री—(दांत पीसकर) "मैं कोई हूं इस से क्या? तुम अपना नाम बताओ।"

बाबू के देवता कूच कर गए। मगर साहस करके बोला—"वाह चली हैं मुझे धमकाने, उस से नहीं कहतीं कि विना टिकट के गाड़ी पर क्यों सवार हुई थी?"

सावित्री ने आगे बढ़कर अपना हाथ उस की गर्दन पर रख दिया और उसे झंझोड़ कर बोली—"तुम अपना नाम बताओगे या नहीं? (रोआब से) बोलो तुम्हारा नाम क्या है, मैं तुम्हारी रिपोर्ट करूंगी।"

जब हम निराश होते हैं तो हम में साहस आ जाता है। बाबू भी निराश होकर दिलेर हो गया। उस ने सावित्री का हाथ परे हटाकर कहा—"खबरदार! मैं तरह दिए जाता हूं, तुम तेज़ होती जा रही हो। अगर मैंने कुछ कह दिया, तो तुम्हारी आबरू मिट्टी में मिल जाएगी।"

अब सावित्री से सहन न हो सका। एक क्षण में उस ने अपने पांव से जूता निकाल कर बाबू के सिर पर दो चार जमा दिए। यह कोलाहल सुनकर स्टेशन के दो-चार और

बाबू भी कुछ दूरी पर आ खड़े थे। वह हैं हैं करते ही रह गए और बाबू साहब की कपाल-क्रिया हो गई। लड़ाई में जो पहले लगा दे वही जीत जाता है; बाबू किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया। वह बौखला सा गया था। उस से इतना भी न हुआ कि सावित्री को परे ही धकेल दे। जब जूते पड़ चुके तो दूसरे बाबुओं ने आकर बीचबचाव कर दिया। एक ने कहा—"आप ने जूते मारने में ज़्यादती की; वैसे मुंह से जो चाहतीं, कह लेतीं, हर्ज न था।"

मगर सावित्री बिफरी हुई सिंहनी के समान गुर्रा कर बोली—"आप जूतों की कहते हैं, मेरा जी चाहता है; इस चण्डाल का लहू पी जाऊं। किसी युवती का अपमान करना क्या हंसी-खेल है?"

बाबू हत्-बुद्धि सा खड़ा था, जैसे मुंह में ज़बान ही न हो। वह अब भी कांप रहा था। मगर यह वह नहीं कांपता था उस के अपने पाप कांपते थे। एक बाबू उसे पकड़ कर बाहर ले गया। तीसरे बाबू ने कहा—"यह किसी की सुनता ही न था। आप ने आज सबक़ दे दिया। खूब पिटा।"

सावित्री—"अगर आप न आ जाते तो अभी और पिटता मैं इसे दाल आटे का भाव बता देती।"

चौथा—"बहन! मेरा तो जी खुश हो गया। जो भले घर की स्त्रियों पर कुदृष्टि डाले, वह हमारी सहानुभूति का अधिकारी नहीं। कैसा चुप था। जानता था, यह सब मेरे

दुश्मन खड़े हैं। बात बढ़ी तो सब के सब विरुद्ध हो जाएंगे, मेरे पक्ष में एक भी न होगा।"

तीसरा—"मगर आप ने बड़ी वीरता का कार्य किया। यदि ऐसी दो चार घटनाएँ हर महीने हो जाएँ तो बदमाशों को भी कान हो जाएँ। फिर किसी की तरफ़ आंख भी न उठाएँ।"

सावित्री—"ग़रीब लड़की पति से बिछुड़ गई है। उसकी सहायता तो क्या करेगा, उलटा उस को तंग करता है। इस का नाम क्या है, मैं इस की रिपोर्ट करूंगी!"

दूसरा—"अब जाने दें। कहीं नौकरी छुट गई तो मारा जायेगा। आप ने उसे जो शिक्षा दी है उसे जल्दी नहीं भूलेगा।"

यह कहकर बाबू चले गए। सावित्री और रक्षा एक बेञ्च पर बैठकर बातें करने लगीं।

रक्षा ने सावित्री की तरफ़ श्रद्धा-भाव से देखकर कहा—"बहन! तुम ने मुझे बचा लिया वर्ना पता नहीं क्या हो जाता। मैं तो कांप रही थी, मगर तुम्हारी आवाज़ सुनते ही मेरी चिन्ता मिट गई। मुझे विश्वास हो गया कि अब कोई भय नहीं।"

सावित्री—"और जो मैं भी तुम्हारे ही जैसी होती तो?"

रक्षा—"जिस समय तुम ने जूते लगाने आरम्भ किए उस समय तो मुझे आनन्द आ गया। एक बार मेरे जी में भी आया कि बढ़कर एक लगा दूं।"

सावित्री—(आश्चर्य से) "अरे तुम्हारे मन में !"

रत्ना—"परन्तु यह तुम यहां कैसे आ गईं; मैं तो समझती थी, तुम लाहौर जा पहुंची होगी।"

सावित्री—"तुम ने मुझे याद किया था या नहीं ?"

रत्ना—"किया था।"

सावित्री—"बस बस उसी समय उड़ कर यहां आ गई। तुम से आज ही तो प्रतिज्ञा की थी कि श्रद्धा से याद करोगी तो तत्काल पहुंच जाऊंगी।"

रत्ना—"नहीं सच बताओ।"

सावित्री—(हंस कर) "तुम्हारे चले आने के बाद यहां की एक सखी मिल गई। अपनी भाभी को बिदा करने आई थी। मुझे देख कर लिपट गई कि ले कर ही जाऊंगी। बहुत इनकार किया, मगर उस ने एक न सुनी। कहा, अब न जाने दूंगी, सायंकाल चले जाना। क्या करती, उतरी और उन्हें तार भिजवा दिया कि रात को आऊंगी, स्टेशन पर चले आना।"

रत्ना—"अब रात को अकेली जाओगी! बहन तुम्हें नमस्कार है।"

सावित्री—(मुस्करा कर) "तुम साथ चली चलो पहुंचा कर चली आना। क्यों ?"

रत्ना—"मैं क्या जाऊंगी (थोड़ी देर के बाद) तुम्हारी सहेली को परमेश्वर ने मेरे ही लिए भेज दिया था। मिल जाए तो पांव चूम लूं।"

सावित्री—"और मेरे हाथ नहीं चूमती, जिन्होंने उसकी खोपड़ी शुद्ध कर दी है।"

रक्षा की आंखों में पानी भर आया, सावित्री का हाथ दबाकर बोली—"मेरे शरीर का एक एक रोयां तुम्हारा ऋणी है। जब तक जीती हूं, यह उपकार न भूलेगा। तुमने मेरे प्राण बचा लिये हैं। कितनी भयानक घड़ी थी, अब भी ख्याल आता है, तो कलेजा कांप उठता है। उस समय तुम्हारे रूप में स्वयं भगवान आ गये। और क्या?"

सावित्री—"अब किसी से छेड़छाड़ न करेगा।"

रक्षा—"तुम्हारा अद्वितीय साहस देख कर मैं चकित रह गई। तुम उसे डांटती थीं, मैं हैरान हो रही थी। सोचती थी, एक मैं हूं जो भीगी बिल्ली बने कांप रही हूं, एक यह है जो सिंहनी के समान गरज रही है।"

सावित्री—"परन्तु यह हुआ क्या? बहनोई जी कहां चले गये?"

रक्षा—(चिन्ताभाव से) "यह मुझे भी मालूम नहीं। जब गाड़ी आई है, तो मेरे आगे आगे चल रहे थे। इसके बाद भगवान जाने, कहां गायब हो गये?"

सावित्री ने थोड़ी देर सोच कर कहा—"मेरे विचार में उन्होंने भूल से किसी अन्य युवती को अपनी स्त्री समझ लिया है। उसके कपड़े भी तुम्हारे ही तरह होंगे। सम्भव है उसका भी गौना अभी हुआ हो। मेंहदी वाले हाथ और चूड़े वाली

बांह देख कर धोखा खा जाना साधारण बात है। ऐसा प्रायः होता रहता है। स्यालकोट जाकर बात खुलेगी, तो भागे २ आएंगे। शायद इसी गाड़ी में आ जाएं।"

रत्ना—"उनकी भूल हो गई, मेरी मौतमें सन्देह न था।"

सावित्री—(छेड़ कर) "ज़रा घूंघट और खींच लो। बोलो, अब भी परदे को प्रणाम करोगी या अभी कुछ और देखने की अभिलाषा है ?"

रत्नाने मुंह से कुछ उत्तर न दिया, मगर उसके मन में हलचल मची हुई थी। सोचती थी, कहती तो ठीक है। यदि परदा न होता, तो इस सङ्कट की सम्भावना ही न थी, साथ साथ चली जाती। यदि पीछे रह भी जाती तो भी खोज लेना कठिन न था। मैं समझती थी, परदा न करने से निर्लज्जता आ जाती है, परन्तु मेरा खयाल गलत निकला। उल्टा यह सिद्ध हो गया कि परदा साहस का गला घोंट देता है। जो परदा करेगी, उसमें वीर भाव न होंगे। फिर इसमें और सहस्रों अवगुण भरे हैं। दो मील की यात्रा हो, पुरुष साथ चले। एक यह वीर-रमणी है, कि अकेली सफर करती है। क्या मजाल कि कोई आंख उठा कर देख भी जाए। परन्तु फिर विचार आता, लोग क्या कहते होंगे ? यही कि इस स्त्री में लज्जा नाम को नहीं। कैसे मुंह खोल कर चलती है ? स्त्रियां अलग ताने मारेंगी। हाय दुनिया की ज़बान ! हाय दुनिया की झूठी लाज !

आध घण्टे के बाद स्यालकोट से गाड़ी आई, तो उसमें रत्ना का पति रामजीदास भी था। बेचारा घबराया हुआ था। मुंह पर वह कान्ति ही न थी। ऐसा मालूम होता था, जैसे राह में रोता आया है। गाड़ी से उतर कर वह चुपचाप खड़ा हो गया। सावित्री ने उसे देखते ही पहचान लिया और संकेत से अपने पास बुला कर पूछा—"क्यों आप किसे देख रहे हैं?"

रामजीदास—"क्या कहूं मैं आज........" एकाएक उसकी दृष्टि रत्नाकी ओर उठ गई, जो लज्जासे सिमटे सिमटाए बेंच पर बैठी थी। वह चौंक पड़ा और टिकटिकी लगा कर उसकी ओर देखने लगा। सोचता था, यही तो नहीं है?

सावित्री ने त्योरी चढ़ा कर कहा—"आप उधर क्या देखते हैं? शर्म नहीं आती, स्त्री की ओर घूर घूरकर देख रहे हैं। बुलाऊं किसी पुलिस के आदमी को।"

रामजीदास का मुंह उतर गया, धीरे से बोला—"मेरी स्त्री खो गई है। उसके भी ऐसे ही वस्त्र थे। यह कहते कहते उसकी पलकें भीग गईं।

सावित्री ने मुस्कराकर कहा—"अरे! स्त्री खो गई। बड़ी अजीब बात है। इधर इस ग़रीब का पति न मालूम कहां चला गया? आप स्यालकोट से आ रहे हैं क्या? हां, वहीं से तो यह गाड़ी आ रही है। उसे देखें तो पहचान लें या नहीं?"

रामजीदास की आंखें फिर चमकने लगीं। हिचकिचाकर बोला—"उसे तो क्या पहचानूंगा, हां उसके कपड़े पहचान सकता हूं। ठीक ऐसे ही थे। मेरा विचार है, यही है।"

सावित्री—"एकदम विचित्र समस्या है। न पति स्त्रीको पहचानता है, न स्त्री ने पति को देखा है।"

रामजीदास को और भी आशा हो गई। समझा, स्त्री मिल गई। शान्ति की सांस लेकर बोला—"स्यालकोट से यहां तक जैसे आया हूं परमेश्वर ही जानता है। अब सन्तोष हुआ।"

सावित्री—"परन्तु बाबू साहब! यह कैसे निश्चय हो कि यह आपकी ही स्त्री है, किसी और की नहीं।"

यह कहते कहते सावित्री को हंसी आ गई। रामजीदास का रहा सहा सन्देह भी मिट गया। बोला—"बहनजी! अब न बनाइये, बहुत बन चुका हूं। दिल अभी तक धड़क रहा है"

सावित्री—"और जिस समय इस निस्सहाय अबला को यहां छोड़ कर चले गए थे, उस समय इसका दिल तो नाचने लग गया होगा क्यों?

रामजीदास—"अब क्या कहूं? भीड़ में जा रहा था, इतने में क्या देखता हूं, कि एक युवती जनाना डिब्बे में सवार हो रही है। इतनी ही आयु थी, ऐसे ही कपड़े थे। मैं समझा, यही है। निश्चिन्त होकर साथ के डिब्बे में जा बैठा। स्यालकोट पहुंचे, तो पता लगा कि यह तो कोई और है।

सावित्री—तो जाइये, भागकर मिठाई लाइये। मुंह मीठा किये बिना स्त्री न दूंगी। परन्तु स्यालकोट तक ले जा सकेंगे आप ?

रामजीदास—"क्यों ?"

सावित्री—"कहीं फिर न खो दें, मुझे यही भय है।"

रामजीदास—"अब और लज्जित न कीजिये। यह शिक्षा सारी उमर न भूलेगी।"

सावित्री ने सारी बात सुनाई। रामजीदास उसके साहस और आत्मिक शक्ति पर चकित हो गया। बोला,—"आपके उपकारों से मेरी गर्दन झुकी रहेगी। ऐसा बल और तेज स्त्रियों में आजाए तो हमें जरा कष्ट न हो।"

सावित्री—"यह सब आप ही के हाथों में है, चाहें तो आज स्त्रियां शेर हो जाएं। खैर, अब आज्ञा दीजिए, मेरी गाड़ी का समय हो गया है। फिर मिलेंगे, तो बातें होंगी।"

रामजीदास—(बड़े आग्रह से) "बहन जी! अपना पता तो देते जाइए। भाई साहब को धन्यवाद का पत्र लिख दूं।"

सावित्री—"पता रत्ना से पूछ लेना। बाकी रहा धन्यवाद का पत्र, सो तुम्हारे भाई साहब इसके भूखे नहीं। स्त्री का बन्धन काटो।" यह कह कर उसने रत्ना को गले लगाया और दूसरे प्लेटफार्म की ओर चली गई।

(४)

कई महीने बाद दोनों सखियों का गाड़ी ही में फिर मिलाप हुआ। परन्तु अब रत्ना वह रत्ना न थी। मालूम होता था, जैसे किसी स्वतन्त्र देश की स्वतन्त्र रमणी चली आ रही है। वह घूंघट, वह परदा नाम को भी न था। उसके पीछे पीछे कुली असबाब लिए आ रहे थे। रत्ना भी उसी कम्पार्टमैन्ट के सामने आकर खड़ी हो गई, जिस में सावित्री बैठी अपने मायके जा रही थी। रत्ना ने कुलियों से कहा असबाब रख दो। रख चुके, तो उनको मजूरी दी और शांति से गाड़ी में बैठ गई। सावित्री ने यह सारा दृश्य देखा तो उसका हृदय कमल खिल गया, बोली, "वाह बहन! अब तो बड़ी बहादुर बन गई।"

रत्ना ने चौंक कर सिर उठाया, तो सामने सावित्री बैठी थी। रत्ना उछल कर उसके गले से लिपट गई और बोली—"बहन जी! मैं तो निराश हो चुकी थी। मुझे आशा न थी कि अब तुम से मेल होगा। तुम्हारे मकान पर दो बार गई, दोनों बार जवाब मिला, लाहौर से बाहर हैं। आज जाते जाते दर्शन हो गए। जी खुश हो गया।"

इतने में रामजीदास खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया और रत्ना से बोला—"असबाब रखा गया?"

रत्ना ने मुस्करा कर कहा—"देखिए बहन जी मिल गईं, नमस्ते कर लीजिए। क्या मालूम कहां उतर जाएं।"

रामजीदास ने झुक कर सावित्री को नमस्ते की, और कहा—"दो बार गए पर आप न मिले। भाईजी कहां हैं? और आप कहां जा रही हैं?"

सावित्री—"साथ की गाड़ी में बैठे हैं, गुजरात उतरेंगे। अच्छा अब जाकर बैठ जाइये, नहीं गाड़ी छूट जाएगी।"

रामजीदास चला गया, गाड़ी चलने लगी।

सावित्री ने पूछा—"रत्ता! वह घूंघट कहां है?

रत्ता ने मुस्करा कर उत्तर दिया—"वजीराबाद के स्टेशन पर छोड़ दिया।"

सावित्री—"लोग देख देख कर हंसते होंगे।"

रत्ता—'शौक से हंसें। यहां अपना बिगड़ता ही क्या है?

सावित्री—"स्त्रियां तो कहती होंगी, बड़ी निर्लज्जा है, खुले मुंह चलती है।"

रत्ता—"उस मुहताजी से यह निर्लज्जता भली। अब पग पग पर खीझना तो नहीं पड़ता। अभी चले आरहे थे, पुल पर उनके एक पुराने मित्र मिल गए। कई वर्ष बाद मिले थे, दो बातें करने खड़े हो गए। परदा होता, तो वहीं खड़ी रहती, जैसे कैदी बेड़ियां पहने हो। गाड़ी पर सवार होना मुश्किल हो जाता।"

सावित्री—"मगर यह कायापलट कैसे हो गई? कहां वह पार्सल; कहां यह चहकने वाली चिड़िया? आकाश पाताल का अन्तर पड़ गया।"

रक्षा—"बड़ी लम्बी कहानी है बहन, (ठंडी सांस लेकर) यह स्वतन्त्रता की हवा बड़ी महंगी मिली है। ऐसे ऐसे विरोध हुए कि तुम से क्या कहूं? परन्तु शाबाश है उनको, ज़रा नहीं घबराए।"

सावित्री—(शौक से) बहन! सारा हाल सुनाओ। ओस की बूंद से प्यास नहीं बुझती।"

रक्षा—"बहन! स्यालकोट जाकर उन्होंने घर वालों से साफ कह दिया कि मैं तो परदा न कराऊंगा। घर वाले सन्नाटे में आ गए। उनको कभी सन्देह न था कि लड़का यों हाथ से निकल जाएगा। कई दिन तक समझाते रहे, परन्तु, उन पर ज़रा भी प्रभाव न हुआ, बोले—"आपकी यह बात तो कभी भी न मानूंगा। दो दिन झगड़ा होता रहा, तीसरे दिन प्रातःकाल मुझे घूमने के लिए बाहर ले गए। जब वापस आए तो सभी के मुंह टेढ़े थे, सीधे मुंह से कोई बात भी न करता था। सास ने मुझे सुना कर कहा–"चलो! और नहीं मेम तो बन गई है। गौन पहन ले, तो रही सही कसर भी निकल जाए। लाहौर जाकर कुछ तो सीखा।"

भाभी ने जवाब दिया—"राज का इस में ज़रा भी दोष नहीं। यह सब इसी रानी का काम है। चाहती है अलग हो जाऊं, मगर मुंह से एक शब्द भी नहीं निकालती। आग लगाती फिरती है।"

सास—"नहीं बेटी, राज ही बिगड़ गया है। इसका

क्या है ? जो कहेगा, करेगी ।"

भाभी—"यह चाहे, तो उसकी एक भी पेश न जाए । कहे, भई ! मैं तो परदा करूंगी । मगर नहीं, हमारे सामने मिन मिन करती है, एकान्त में आग पर तेल छिड़कती है ।"

सास ने कहा–"यह तो ठीक है । स्त्री चाहे, तो सब कुछ कर सकती है ।"

इसके बाद बहन ! मुझ पर जो कुछ बीती है, वह मैं ही जानती हूं । सारा घर विरुद्ध था, पक्ष में कोई भी न था । कोई इतना भी न पूछता था कि ग़रीब ने भोजन भी किया है या नहीं ? हां, ताने मारने को सभी शेर थे । मैं सारा दिन रोती रहती थी कि कहां आ फंसी ! इसी रोने धोने में पन्द्रह दिन बीत गए ।

एक दिन सांझ के समय जब कि आसमान पर बादल छाए हुए थे, ससुर जी बाहर से आते ही बोले—"इस लड़के ने तो जीना हराम कर दिया ।"

सासजी ने पूछा—"क्यों क्या हुआ ?"

ससुर–"होना क्या है ? सारा बाज़ार खिल्ली उड़ाता है । मुझे देखते हैं तो सुना सुना कर बातें करते हैं । जी में आता है ज़हर खा लूं ।"

सास–"ज़हर खाएं तुम्हारे दुश्मन । तुम जरा डांट क्यों नहीं देते ?"

ससुर–"अब किस किसको डांटूं ? सारा बाज़ार हंसता

है। आज तो मैं इसका फैसला ही कर देना चाहता हूं। राज घर में है या नहीं ?"

सास–"बाहर गया है, अब आना ही होगा। पर ज़रा प्यार से बोलना। आख़िर बच्चा है।"

इतने में वह भी आ गए। मैं डर गई। ससुरजीने उन्हें देखते ही कहा–"सुनो भई ! मेरे घर में यह बेहयाई न चलेगी। या परदा करो, या घर से निकलो। बोलो क्या स्वीकार है ?"

वह–"अब यह परदा इतना प्यारा हो गया।"

ससुर–"इससे भी प्यारा।"

वह–"क्या लड़के से भी ज्यादा।"

ससुर–"लड़के से नहीं, जानसे भी ज्यादा। मैं परदे को अपनी कुल-मर्यादा ख्याल करता हूं।"

वह–"बहुत अच्छा ! मैं घर छोड़ दूंगा।"

सास बोलीं–"पिता के सामने यों बोलते तुझे लाज नहीं आती। कह दे जो आप चाहें, वह करें, मैं आपसे बाहर नहीं हूं।"

ससुर–"तो तुम्हारा यही निश्चय है ? एक बार फिर सोच लो।"

वह–"जो सोचना था, सोच चुका।"

ससुर–"तो आप यहां से तशरीफ ले जाएं और अपनी स्त्री को भी ले जाएं। आज से मेरे लिए तुम मर गए, तुम्हारे लिए

मैं मर गया।"

यह कहते कहते ससुरजी उठ कर अन्दर चले गए, सास-जी रोने लगीं। उन्होंने बेटे को बहुत समझाया, परन्तु उन्होंने एक न सुनी। देखते देखते वह तैयार हो गए। उन्होंने घरकी कोई वस्तु भी साथ न ली, यहां तक कि दहेज का सारा सामान भी वहीं छोड़ दिया। मुझसे बोले 'चलो।'

मैं चुपचाप खड़ी हो गई।

उन्होंने मांसे कहा—"देख लो, मैं सब कुछ यहीं छोड़े जाता हूं।"

भाभी चमक कर बोली—"छोड़े कैसे जाते हो, वह रानी तो ज़ेवरों से लदी हुई है।"

यह बात मुझे ऐसी बुरी मालूम हुई, जैसे घावपर नश्तर लग गए, मगर मुंह से कुछ न कहा। एक आह भी न निकलने दी।

वह बोले—"ज़ेवर भी उतार दो। किसी प्रकार इस चुड़ैल का कलेजा ठंडा हो।" मैं आभूषण उतारने लगी। सासजी ने रोकर कहा—"बेटी रहने दे, अरी क्या करती है? यह तो पागल हो गया है।"

मगर उन्होंने कहा—"उतार दे। परमात्मा देगा, पहन लेंगे; न देगा न पहनेंगे।"

मैंने सारे आभूषण उतार दिए और उनके पीछे पीछे बाहर निकल आई। सासजी रोकती ही रह गईं, मगर हम

चले आए। गली के मोड़ पर पहुंचे, तो आसमान भी रोने लगा। मैंने ठिटक कर कहा—'पानी बरस रहा है।'

वह—"तुम कागज की गुड़िया नहीं हो कि गल जाओगी चुपचाप चली आओ।"

रात का समय था, बादल बरस रहा था, ठंडी हवा चल रही थी. बिजली चमक रही थी और हम दोनों स्त्री पुरुष घर से निकल कर वर्षा में भीगते, सरदी में कांपते, भूखे प्यासे स्टेशन की तरफ जा रहे थे।"

(५)

इतना कह कर रत्ना चुप हो गई। सावित्री ने उसको स्नेह-पूर्ण नेत्रों से देखा और कहा—"तुम दोनों ने बड़ी वीरता का काम किया, तुम वीरात्मा हो। परमात्मा तुम्हें इतना दें कि तुम संभाल न सको।"

इसके बाद बहुत देर तक दोनों चुप रहीं। आखिर सावित्री ने पूछा—"अब कहां जा रहे हो ?"

रत्ना—"हमारी बदली हो गई। रावलपिंडी जा रहे हैं।"

इतने में वजीराबाद का स्टेशन आ गया। रत्ना सावित्री को लेकर नीचे उतरी और बोली—"ज़रा मुझे स्यालकोट के प्लेटफार्म पर ले चलो।"

सावित्री उसे वहीं ले गई। रत्ना ने चारों तरफ देखा. और तब उस दीवार के सामने जा पहुंची, जहां दो मास पूर्व वह सहमी हुई खड़ी थी। उस समय यह स्थान कितना

भयानक था, मगर आज उसके लिए यह दीवार मन्दिर से कम न थी। रत्ना को ऐसा मालूम हुआ, जैसे वह दीवार मुस्करा रही है, जैसे उससे बातें कर रही है। यहां आकर उसको स्वर्ग का राज्य मिल गया। उसने सावित्री से कहा– "बहन! यही वह स्थान है, जहां मेरी काया-पलट हुई। यहीं मेरे बन्धन खुले, यहीं पर मुझे स्वतन्त्रता का वरदान मिला। यह स्थान मेरे लिये तीर्थ से भी बढ़ कर है।"

यह कहते कहते उसका गला भर आया। इतने में सावित्री ने चौंक कर एक बाबू की तर्फ इशारा किया और कहा—"वह देखो कौन है, कुछ जानती हो?"

रत्ना–"नहीं।"

सावित्री—(मुस्करा कर) "तुम्हारे तीर्थ का देवता है। वही बाबू जिसकी उस दिन मैंने जूतों से पूजा की थी। इसे भी प्रणाम कर लो।"

बाबू ने सावित्री को देखा तो उसके चेहरे का रङ्ग फक हो गया। वह जिधर से आ रहा था, उधर ही वापस चला गया।

रत्ना ने हंस कर सावित्री की तरफ देखा और कहा— "बहन! इस तीर्थ का देवता वह तो क्या होगा, हां तुम इसकी देवी अवश्य हो, मैं तुम्हें प्रणाम करती हूं।"

थोड़ी देर बाद दोनों गाड़ी में जा बैठीं।

अपनी कमाई

प्रातःकाल अमीर बाप ने अपने आलसी और आराम तलब बेटे को अपने पास बुलाया और कहा—जाकर कुछ कमा ला, नहीं रात को भोजन न मिलेगा।

लड़का बेपरवाह, दुर्बल और निर्लज्ज था। परिश्रम करने का उसे अभ्यास न था। सीधा अपनी माँ के पास गया और रोने लगा। माता ने बेटे की आँखों में आँसू और उसके मुख पर चिन्ता और शोक की मलिनता देखी, तो उसकी ममता बेचैन हो गई। उसने अपना सन्दूक खोला और एक पौंड निकाल कर बेटे को दे दिया।

रातको बाप ने बेटे से पूछा—"आज तुमने क्या कमाया ?"

लड़के ने जेब से पौंड निकालकर बाप के सामने रख दिया।

बाप ने कहा—"इसे कुएँ में फेंक आ।"

लड़के ने तत्परता के साथ पिता की आज्ञा का पालन किया।

अनुभवी पिता सब कुछ समझ गया। दूसरे दिन उसने स्त्री को मैके भेज दिया।

तीसरे दिन उसने फिर लड़के को बुलाया और कहा—“जा कुछ कमा ला, नहीं रात को भोजन न मिलेगा।”

लड़का अपनी बहन के पास जाकर रोने लगा। बहन ने अपना सिंगारदान खोला, उसमें से एक रुपया निकाला और भाई को दे दिया।

रात को बापने बेटे से पूछा—“आज तुमने क्या कमाया?”

लड़के ने जेब से रुपया निकाल कर बाप के सामने रख दिया।

बाप ने कहा—“इसे कुएं में फेंक आ।”

लड़के ने तत्परता के साथ आज्ञा का पालन किया।

अनुभवी पिता सब कुछ समझ गया। दूसरे दिन उसने बेटी को सुसराल भेज दिया।

इसके बाद उसने एक दिन फिर बेटे को बुलाकर कहा—“जाकर कुछ कमा ला, नहीं रात को भोजन न मिलेगा।”

लड़का सारा दिन उदास रहा और उसकी आँखों से आँसू बहते रहे; परन्तु आँसुओं को देखनेवाली प्यार की आँखें घर में न थीं। विवश होकर संध्या समय वह उठा और बाजार में जाकर मजूरी खोजने लगा।

एक सेठ ने कहा—“मेरा सन्दूक उठाकर घर ले चल। मैं तुझे दो आने दूंगा।”

अमीर बाप के अमीर बेटे ने सन्दूक उठाया और उसे

सेठ के घर पर पहुँचाया: लेकिन उसकी सारी देह पसीने में तर थी। पाँव काँपते थे और गरदन और पीठ में दर्द होता था।

रात को बाप ने बेटे से पूछा—"आज तुमने क्या कमाया?"

लड़के ने जेब से दुवन्नी निकालकर बाप के सामने रखदी।

बाप ने कहा—"इसे कुएँ में फेंक आ।"

लड़के की आँखों से क्रोध की ज्वाला निकलने लगी। बोला—"मेरी गरदन टूट गई है, और आप कहते हैं कुएँ में फेंक आ।"

अनुभवी बाप सब कुछ समझ गया।

दूसरे दिन उसने अपना कार-बार बेटे के सुपुर्द कर दिया।

एक स्त्री की डायरी

[३ सितम्बर १६२१]

परमात्मा का लाख-लाख शुक्र है, जो ऐसा अच्छा घर मिला। घर क्या है, एक महल है। किसी वस्तु का अभाव नहीं, सब कुछ है। सच तो यह है, मेरे भाग खुल गए। मुझे स्वर्ग मिल गया। मैं जो कुछ चाहती थी, ब्याह से पहले मैंने परमात्मा से हाथ बाँधकर जिस जिस चीज़ के लिए प्रार्थना की थी, मुझे उससे भी अधिक मिल गया। घर से विदा होते समय जो चिन्ता, जो क्षोभ, जो धड़कन थी, वह अब नाम को भी नहीं। मेरी सास बहुत हँसमुख हैं। मुख-कमल सदा खिला रहता है। मुझे देखकर बहुत खुश हुईं और बोलीं—कैसी सुन्दर है, देखकर भूख मिट जाती है। दिन में कई बार आकर पूछती हैं—कोई तकलीफ़ तो नहीं? जिस चीज की जरूरत हो, माँग लेना। संकोच न करना, अब यह तेरा अपना घर है। भोजन के समय सामने आ बैठती हैं, और बड़ी साध से खिलाती हैं। दुपहर को बाजा लाकर सामने रख

देती हैं, और कहती हैं—बजा। लाख नहीं करती हूँ; मगर कौन सुनता है? हारकर बजाना ही पड़ता है। उस समय उनका मुँह प्रसन्नता से चमकने लगता है। इतना आदर, इतना प्रेम मैके में भी न था। ससुरजी भोलेनाथ हैं। सासजी जो चाहें, करें, क्या मजाल जो किसी बात में बोल जाँय। दोनों समय भोजन पाने आते हैं, और फिर मर्दाने में चले जाते हैं। हाँ, इतना पूछ लेते हैं—छोटी बहू उदास तो नहीं हो गई। सासजी मुस्कराकर उत्तर देती हैं—तुम अपना हुक्का पियो, तुम्हारी छोटी बहू के लिए मैं काफ़ी हूँ। जेठानीजी भी बहुत अच्छे स्वभाव की हैं, मुझसे बहुत जल्द घुल-मिल गई हैं। सारा दिन पास बैठी रहती हैं। रात को भी दस बजे से पहले पीछा नहीं छोड़तीं। जेठजी कहीं बम्बई में नौकर हैं, पाँच सौ के लगभग वेतन पाते हैं।

बाकी रह गये वे। उनके विषय में क्या लिखूँ। अत्यंत हँस-मुख आदमी हैं। बात-बात में हँसते हैं और हँसाते हैं। ऐसा मधुरभाषी, ऐसा सरल-हृदय, ऐसा रौनकी जीव मैंने कभी नहीं देखा। उनके चेहरे पर मुसकान सदा खेलती रहती है। मानो मुस्कराता हुआ चित्र हो, जो कभी उदास नहीं होता। चित्रकार ने एक बार मुस्कराते हुए बना दिया अब सदा मुस्करा रहा है। यही अवस्था उनकी है। अपनी भाभी से बहुत प्यार है। आते हैं, तो द्वार ही से भाभी-भाभी चिल्लाने लगते हैं। उनकी एक-एक बात की प्रशंसा करते

है। कहते हैं, ऐसी भाभी शहर-भर में किसी की न होगी। भाभी भी उनको बहुत चाहती हैं। उनकी ज़रा-ज़रा-सी बात का ख़याल रखती हैं। उनके इस प्यार को देखकर मैं किसी दिव्य-लोक में पहुँच जाती हूँ। यह भाभी-देवर की मुहब्बत नहीं, माँ-पुत्र का प्यार है। यह सांसारिक नाता नहीं, बहन-भाई का सम्बन्ध है, कैसा पवित्र, कैसा उज्ज्वल, कैसा उच्च-कोटि का ! [redacted]

[२७ सितम्बर १९२१]

आज मुझे ससुराल में आए हुए पूरा एक महीना हो गया। इस बीच में एक बार भी ख़याल नहीं आया, कि किसी दूसरी जगह आ गई हूँ। ऐसा मालूम होता है, जैसे अपने घर में बैठी हूँ। हाँ, इतना भेद है, कि अब मेरा अपना अस्तित्व बन गया है। इसके अतिरिक्त मेरी दुनिया में एक नवीन व्यक्ति का प्रवेश हुआ है, और यह व्यक्ति कुछ ही दिनों में मेरा आवश्यक अंग-सा बन गया है। वे मुझे कितना चाहते हैं, मुझे देखकर उनकी कैसी दशा हो जाती है, शरारती आँखों से किस तरह मुस्कराते हैं, घर का कोई आदमी आ निकले, तो कैसे भोले-भाले बनकर दूसरी तरफ देखने लगते हैं, यह बातें ऐसी नहीं, कि इनपर विचार करूँ और हृदय में ब्रह्मानन्द की गुदगुदी न होने लगे। अलग जा बैठूँ, तबभी उधर से निकलने का कोई बहाना बना लेते हैं और प्रकट

यह करते हैं, कि जैसे मेरा ध्यान ही नहीं है, यद्यपि उनकी एकमात्र अभिलाषा यही होती है, कि किसी प्रकार आँखें मिल जायँ। स्वयं मेरी यह अवस्था है, चाहती हूँ पास ही बैठी रहूँ और बातें करूँ। मुझे तो उनका दफ़्तर जाना भी अखरता है। चले जाते हैं, तो दिल उदास हो जाता है। जब उनके लौटने की वेला होती है, तो आँखें द्वार की ओर दौड़ती हैं। जानती हूँ, कि घर के लोग कनखियों से देख रहे हैं। जरूर मन में हँसते होंगे। शायद दिल में सोचते हों, कैसी निर्लज्जा है, ज़रा ख़याल नहीं करती; मगर क्या करूँ, दिल नहीं मानता। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है, जैसे उनको कई सालों से जानती हूँ, जैसे हम सदा से एक साथ रहे हैं, कभी एक दिन के लिए भी जुदा नहीं हुए। एक दिन मुझसे कहने लगे—प्रकाश! तूने मुझपर जादू तो नहीं कर दिया। जी चाहता है, दिन-रात तेरे पास ही बैठा रहूँ, तेरा मुँह देखता रहूँ। मेरा मुँह लज्जा से लाल हो गया। क्या उत्तर देती, सिर झुकाकर चुप हो रही। फिर धीरे से मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोले—तुझे यहाँ कोई कष्ट तो नहीं है, साफ़-साफ़ कह दे। मैंने सिर उठाकर कहा—मुझे यहाँ जरा भी तकलीफ़ नहीं। इस समय मेरी आँखें उनकी आँखों से मिल गईं। कैसे शरारती हैं, इतनी-सी बात पर मुस्कराने लगे। मैं शरमा गई, और हाथ छुड़ाकर हट गई; मगर उन्होंने फिर अपना हाथ आगे बढ़ा दिया, और बोले—

मेम साहब! शेक हैंड (Shake Hand) करो।

मैंने उनका हाथ झटक दिया, और मुँह फेर लिया।

इसपर ऐसी गंभीरता से, जैसे व्याख्यान दे रहे हों, उच्चस्वर में बोले—सज्जनो! आप इस बात के साक्षी हैं, कि हमारी श्रीमती ने इस स्थान पर, दिन के प्रकाश में हमारा अपमान किया है, और हमारा अत्यन्त सुकोमल और सुकुमार हाथ दुखा दिया है। इससे साफ सिद्ध होता है, कि यदि स्त्रियों को स्वाधीनता से इसी प्रकार विकास करने दिया गया, तो भारतवर्ष के पति-परमेश्वरों को घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा।

मैंने हंसते-हँसते उनके मुँह पर अपना हाथ रख दिया, और कहा—"आप यह क्या कर रहे हैं, कोई सुन ले, तो क्या कहे?"

इतने में बाहर किसी के पाँव की चाप सुनाई दी, मैंने घूँघट मुँह पर खींच लिया, और दरवाजे की तरफ पीठ कर के खड़ी हो गई। यह उनकी भाभी थीं। खाँसकर कमरे में आ गईं, और बोलीं—"क्यों कन्हैया! क्या हो रहा था, और यह तेरा चेहरा क्यों लाल हो रहा है?"

मुझे आशा थी, वे संकोच से सिर न उठा सकेंगे। उनसे कोई जवाब न बन पड़ेगा; मगर मेरा ख़याल गलत निकला। उन्होंने तड़ से कहा—"इस स्त्री ने थप्पड़ मारा है, भाभी!"

भाभीजी हँस पड़ीं; मगर मेरा तो हँसी के मारे बुरा हाल

था, लोटी जाती थी। मैंने दुपट्टे का आंचल मुँह में ठूँस लिया; परन्तु हँसी फिर भी न रुकती थी। उन्होंने मेरी तरफ़ संकेत करके भाभी से पूछा—"क्यों भाभी! इस गरीब को कुछ खाने को भी मिलता है, या नहीं! मेरा ख़याल है, नहीं मिलता तभी तो कपड़े खाती रहती है। देख लो, आधा दुपट्टा खा चुकी है!"

भाभी—"अब तू सामने बैठकर खिलाया कर।"

वे—"शोक! हमारी श्रीमती की कोई परवा नहीं करता!"

भाभी—"इस काम के लिए तू ठीक है।"

वे—"न भाभी! मुझसे यह काम न हो सकेगा। कौन काम भी करे, थप्पड़ भी खाए।"

भाभी—"तू इस काम के सिवा और किसी योग्य है ही नहीं। यह भी न करेगा, तो और क्या करेगा?"

वे—"इस श्रीमती से बाजा बजाना सीखूँगा। क्यों प्रोफे-सर साहब! आपको शागिर्द बनाने में कोई आपत्ति तो नहीं?"

मैं हँसती भी थी, और हैरान भी थी, कि कैसे आदमी हैं, जरा नहीं घबराते। भाभी ने कहा तू खाक सीखेगा, तेरे भाग्य में यह चीज नहीं।"

वे—"वाह भाभी! भाग्य में क्यों नहीं। क्या यह हमारी श्रीमती नहीं हैं? जब चाहें बाजा बजने लगे, जब चाहें, इन की मद-भरी तानों से हमारा कमरा गूँजने लगे। अब तुम

जानो ! हम ठहरे बड़े आदमी । हमें इस सिर-दरदी की क्या आवश्यकता है । यह बैठकर गाएगी, हम बैठकर सुनेंगे । क्यों भाभी ?

इन शब्दों में कितना प्यार भरा था, कैसा अपनत्व ! मेरे शरीर में आनन्द को बिजली दौड़ गई । ऐसा मालूम हुआ, जैसे संसार के सकल सुख मेरे ही लिये हैं ।

[१३ नवम्बर १९२१]

हाय शोक ! क्या समझा था, क्या हो गया । इससे तो मर जाना ही अच्छा ! परन्तु मुझे मौत भी नहीं आती, जो इस संकट से छुटकारा हो । जब देखो भाभी ! जहाँ देखो भाभी, आखिर सहन-शक्ति की भी तो कोई सीमा है । जी चाहता है, घर को आग लगाऊँ, और कहीं निकल जाऊँ । सुख न होगा; मगर छाती पर कोई मूँग भी तो न दलेगा । किसी पाठशाला में लड़कियाँ पढ़ा लूँगी, माँगकर खा लूँगी; पर यहाँ न रहूँगी । मैं भी कैसी मूर्खा हूँ, भाभी-भाभी कहते जीभ थकती थी, यह खयाल भी न था, कि अन्दर से मेरी सौत बनी बैठी है । उस दिन कैसे चाव और प्रेम और परिश्रम से भोजन बनाया । दो घंटे बाट जोहती रही । खाने बैठे, तो पूछा, कैसा पका है । मेरी प्रशंसा तो क्या करनी थी, भाभी की महिमा गाने लगे । बोले—"खाना तो भाभी बनाती है । उसके हाथ का भोजन ऐसा स्वादिष्ठ और मीठा होता है, कि

बस !" मुझे ज़हर चढ़गया ! जी चाहता था, सिर दीवार के साथ दे मारूं। प्रशंसा के दो शब्द कह देते, तो उनका क्या बिगड़ जाता, मेरा साहस बढ़ जाता। मैं भी समझती, मुझे कोई प्यार करनेवाला है; मगर नहीं मुझे जलाते हैं। मुझे जलाने में उन्हें मज़ा मिलता है। कभी भाभी की किसी चीज़ में भी ऐब निकाल दें, फिर देखें कैसा आड़े हाथों लेती है: बोलने न दे, मुँह बन्द कर दे। एक मैं हूँ, कि जो कुछ कहते हैं, सिर झुकाकर सुन लेती हूँ। तभी तो शेर होते जाते हैं।

परसों भाभी ने कहा—प्रकाश ! प्रेम के लिए फराक सी दे। पहले तो दिल में ख़याल आया, कह दूँ—मुझे फुरसत नहीं, आप सी लो। फिर सोचा—चलो सी दो, बेकार बैठे रहने से मेरे हाथ बढ़ तो न जायँगे। दो-तीन घंटे मशीन चलाती रही। जब तैयार हुआ, तो हुज्जतें करने लगीं। यह काट गलत है, यह सिलाई मोटी है, लेस ठीक नहीं लगी। और यह फल था, मेरे तीन घण्टे के परिश्रम का ! कोई पूछे, क्या सिलाई देकर सिलाया था, जो ऐसी बारीकियाँ देखने चली हैं। उनसे कहा, तो उन्होंने भी भाभी का पक्ष लिया, बोले—'ठीक कहती हैं। आप बहुत अच्छी सिलाई करती हैं। उनके हाथ का काम देखो, तो दंग रह जाओ। कोई कारीगर दरज़ी भी ऐसा काम कर सकता है, मुझे इसमें संदेह है; इसीलिए उन्हें तुम्हारा फराक पसन्द नहीं आया।' अब कोई काम बताए, साफ़ कह दूँगी—रानी ! तुम्हारे हाथों में

मेंहदी नहीं लगी है, आप कर लो। काम भी करूँ, जली-कटी भी सुनूँ, ऐसी सहनशीलता मुझमें नहीं।

कल रात सिनेमा देखने गए। दो-तीन स्थान ऐसे आए, जहाँ विषय साफ़ न था। मेरा दुर्भाग्य! उनसे पूछ बैठी। बस उनको अवसर मिल गया। लगे भाभी की तारीफें करने; भाभी कभी नहीं पूछती, सारी कहानी आप-से-आप समझ लेती है। कमाल की समझदार है। सिनेमा की बारीकियों को ऐसा समझती है, कि तुमसे क्या कहूँ! वह तो किसी सिनेमा-कंपनी की डायरेक्टर बन सकती है। प्रकाश! शायद तुम इसे अत्युक्ति समझो, मगर यह अत्युक्ति नहीं है। भाभी बड़ी समझदार है। यह सुनना था, कि मेरी देह में आग लग गई; मगर क्या कर सकती थी, जब तक बैठी रही रोती रही, परन्तु वे मजे से बैठे तमाशा देखते रहे। भाभी की आँख से एक भी आँसू गिर जाय, तो सारी रात नींद न आए, दस बार उठ कर देखें, कि सो गई है, या नहीं। एक मैं हूं, कि रो रो कर मर जाऊँ, तब भी आशा नहीं, कि उठ कर दो मीठे शब्द ही कह दें। इन्हीं बातों ने तो मेरे जीवन की प्रसन्नता निगल ली है। शायद वह समझते हों कि मैं अँधेरे में हूँ; मगर यह उनका भ्रम है। मेरी आँखों ने सब कुछ भांप लिया है। मुँह से न बोलूं, यह और बात है; पर जानती सब कुछ हूँ।

हाय शोक! मेरा घर मेरी आँखों के सामने जल रहा है, और मैं कुछ कर नहीं सकती। मनुष्य-जीवन की विवशता का ऐसा दृष्टान्त किसी ने कम देखा होगा।

[२४ नवम्बर १६२१]

मेरा संदेह ठीक निकला।

अब मेरे लिए संसार में बाकी कुछ नहीं रह गया है; मैं पूर्ण रूप से तबाह हो गई। मैं ने ग़रीब-से-ग़रीब और कंगाल-से-कंगाल स्त्रियां देखी हैं; मगर मुझ से वह भी अच्छी हैं। उन के पास आभूषण नहीं हैं, बहुमूल्य वस्त्र नहीं हैं, परन्तु उन के पास मन का सन्तोष और रात की नींद तो है। मेरे पास वह भी नहीं। वह पेट भरने के लिए दिन-रात परिश्रम करती हैं। इस पर भी कभी-कभी उन्हें भूखों रहना पड़ता है। बाज़ ऐसी भी हैं, जिनके पति शराब पीते हैं, बाज़ जुआ खेलते हैं। परन्तु उन को इतना तो संतोष है, कि पति हमारा है, इस पर किसी दूसरी स्त्री का अधिकार नहीं, यह किसी स्त्री की ख़ातिर हम से लड़ने को तैयार न होगा। मेरा जीवन इस आनन्द से भी शून्य है। मेरा दिल इस धन से भी वञ्चित है। मेरे पास सब कुछ है, मगर मेरे पास कुछ भी नहीं है।

वे अब भी बात-बात में भाभी का बखान करते हैं। साफ़ मालूम होता है, कि भाभी उन के मन में बस गई है। उस के

सिवाय वहां किसी अन्य के लिए स्थान ही नहीं है। मैं उन के मन में इस प्रकार रहती हूं, जैसे किसी के यहां चार दिन के लिए कोई मेहमान आ जाय। मकान-मालिक उसे अपने यहां ठहरा लेता है। वह उसका आदर-सत्कार भी करता है। उससे हंसता बोलता भी है। मगर दिल में सदा कुढ़ता रहता है, कि अब यह चला क्यों नहीं जाता? कब तक पड़ा रहेगा? मुँह से कहे या न कहे, आँखें साफ़ कह देती हैं, कि यह अब खुश नहीं है। मैं भी इसी तरह की मेहमान हूँ। खाना-कपड़ा सभी देते हैं, सम्मान से कोई भी नहीं देखता। सोचा था, मायके चली जाऊँ। न आंखों से देखूंगी, न दिल में जलन होगी। घर वाले पहले ही बुला रहे हैं; लेकिन एक सहेली ने राय दी, यह मूर्खता न कर बैठना, नहीं बाद में रोएगी। बात ठीक है, मैं ने जाने का विचार छोड़ दिया।

अब भाभी भी समझ गई है, कि मुझे सब कुछ मालूम है। वह पहले का-सा मेल-मिलाप अब नहीं रहा। मुझ से खिंची-खिंची रहती है, जैसे मैंने उसको कोई हानि पहुंचाई हो। मेरी तरफ़ जब देखती है, अग्निपूर्ण आंखों से देखती है। मांजी भी अप्रसन्न रहती हैं। मालूम होता है, भाभी ने उनके भी कान भर दिए हैं। शायद अगर मैं एक बार भी जाकर अपनी दशा का बयान करूँ, तो उनका व्यवहार बदल जाए। पर क्यों? वह मुझ से क्यों न पूछें, कि तुझे क्या कष्ट है?

मैं दिखा दूँगी, कि मुझे भी तुम लोगों की परवा नहीं। तुम मुझ से एक गज़ दूर भागो, मैं तुम से चार गज़ दूर भागूँगी।

वे चार-पांच दिन से बीमार पड़े हैं। डॉक्टर रोज़ आता है, मगर आराम नहीं हुआ। परमात्मा उन्हें जल्द स्वस्थ करे, मेरा संसार उन्हीं से है। चारपाई पर पड़े देखती हूँ तो कलेजा कांप जाता है। ऐसा मालूम होता है, जैसे बरसों से बीमार हैं। मांजी और ससुरजी दोनों दिन में एक-दो बार आकर देख जाते हैं; मगर भाभी नहीं आतीं। कैसी पाषाण हृदया है। एक ही मकान में रहते हैं, फिर भी यह बेपरवाई!

मगर कोई परवा नहीं।

[२७ नवम्बर १९२१]

कल बुख़ार और भी तेज़ हो गया। सारा दिन बेसुध पड़े रहे। एक बार भी आंख न खोली। मैं पास बैठी रोती रही। मांजी भी सारे दिन उसी कमरे में बैठी रहीं और मुझे तसल्ली देती रहीं। परन्तु मेरे दिल में न जाने क्या हो रहा था, जैसे कोई जानवर मेरे कलेजे को पंजों से खुरच रहा था। मेरा दिल जैसे अथाह अन्धकार में डूबा जा रहा था। जैसे दुनिया में मेरे लिये सिवा निराशा के और कुछ बाकी न रह गया था। उन के चेहरे की ओर ताकते हुए मुझे डर लगता था। बार-बार सोचती थी, क्या होने वाला है! कभी-कभी ऐसी भयानक ऐसी काली कल्पना आकर सामने खड़ी हो

जाती थी, कि आंखों-तले अन्धेरा छा जाता था और दर-दीवार घूमते नज़र आते थे। मांजी ने मुझे चिन्ता में देखा तो उनका क्रोध उतर गया। देर तक मुझे गोद में लिए बैठी रहीं और प्यार करती रहीं। मानों मैं छोटी-सी लड़की थी, जो मां की गोद में बैठी उसकी मुहब्बत से खेल रही हो। यह मुहब्बत कितनी पवित्र थी ! दिल की कितनी गहराइयों से निकलती थी ! यह लिखना आसान नहीं। इसे कोई चित्रकार भी नहीं बयान कर सकता, इसे केवल अनुभव किया जा सकता है। ऐसी सास को नाराज़ किए रहना मूर्खता नहीं तो और क्या था। कदाचित् पहले होश आ जाता, तो इतने दिन न जलती, न जलाती: मगर भाभी ने कमरे में पांव भी न रक्खा, हां लड़के को एक-दो बार भेजा, कि देख आ, क्या हाल है ? ऐसी निर्दयता भी किस काम की ! वे उसे कितना चाहते हैं, इन बीबी जी को परवा ही नहीं। शायद डरती हो, कि कमरे में चली गई, तो कहीं मैं भी बीमार न हो जाऊं। जैसे आप कभी बीमार न होंगी।

जब सन्ध्या-समय हुआ, तो उसे बीमार देवर का ध्यान आया, लड़के को गोद में लिए हुए आकर उनके पलंग के पास खड़ी हो गई और बोली—"क्यों प्रकाश ! मांजी कहती हैं, आज सारा दिन होश नहीं आया। अब क्या हाल है ? बुख़ार हलका हुआ या नहीं ?"

मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे आग का शोला पेट से उठ

कर मुंह की ओर आ रहा है। मगर उसे दबा कर उत्तर दिया—"अभी तो नहीं हुआ, हो जायगा।"

भाभी ने उनके मुँह की तरफ देखा, और घबरा गई। बोली–"इतना कमजोर हो गया है। मुझे यह ख़याल न था।"

मैं (रुखाई से)—"बीमार होकर कमज़ोर न होंगे, तो क्या मोटे हो जायँगे ! बुख़ार उतर जाय, यही बड़ी बात है। बैठ जाओ ! खड़ी कब तक रहोगी ?"

भाभी की आंखों में आंसू आ गए। उसने लड़के को कुरसी पर बैठा दिया, और आप पलंग पर झुक कर उन के चहरे की तरफ देखने लगी। एकाएक उन्होंने करवट बदली, और बेहोशी में कहा—"भाभी !"

भाभी ने उनके सिर पर हाथ फेर कर कहा—"क्यों कन्हैया ! मैं तेरे पास ही खड़ी हूँ। अब जी कैसा है ?

उन्होंने आंखें खोल दीं, भाभी की तरफ देखा, और कराह कर बोले–"सिर फटा जाता है भाभी ! बड़ी तकलीफ़ है !"

यह कह कर उन्होंने फिर आंखें बन्द कर लीं।

भाभी—"प्रकाश से कहूं, तेरा सिर दबा दे ?"

ये–"तेरे हाथ नहीं हैं क्या? जो तू प्रकाश से कहेगी। वह ग़रीब तो रात दिन मेरे पास बैठी रहती है। तुझ से इतना भी नहीं हो सकता, तो जा, अपने कमरे में बैठ। मांजी कहां हैं ?"

भाभी उनके पलंग पर बैठ गईं, और उनका सिर दबाने लगी। शायद कोई अत्युक्ति समझे; मगर यह अत्युक्ति नहीं है। भाभी जितने ज़ोर से उनका सिर दबाती थीं, उस से दुगने ज़ोर से मेरा दिल दबा जा रहा था। सीने में आग सी लगी हुई थी। जी चाहता था, आत्म-हत्या कर लूं। हाय शोक! जिसके लिए हम दिन का आराम और रात की नींद निछावर कर दें, वह दूसरों के सामने हमारा इस तरह अपमान करे।

इतने में उन्होंने भाभी का हाथ अपने हाथ में ले लिया, और बोले—"अब मेरा बुखार बहुत जल्द उतर जायगा भाभी! अगर तूने मेरा बायकाट न किया होता, तो अब तक कभी का बुखार उतर गया होता। चली थी हेकड़ी जताने! आख़िर झक मारकर हार माननी पड़ी या नहीं?"

मेरी देह में और भी आग लग गई।

भाभी ने एक बार मेरी तरफ देखा, और फिर उन के सिर पर हाथ फेर कर कहा—"हां बाबा! सौ दफा हारी! अब तुम यह बुखार छोड़ो।"

अब मुझ से सहन न हो सका। उठ कर छत पर चली गई, और रोने लगी। मगर मेरे आंसू देखने वाला कौन था?

[५ दिसम्बर १९२१]

मेरे आँसू देखने वाला मेरा परमात्मा था। उसने मेरी विवशता और एकांत को देखा, मेरे चहुँ ओर छाए हुए अन्धकार को

देखा, और मेरे जीवन की काली रात में आशा प्रेम. और उल्लास का प्रभात भेजकर मुझे बचा लिया।

२८ नवम्बर की रात थी, मैं मरने की तैयारियां कर रही थी। मरने के लिए या विष की आवश्यकता है, या रेल-गाड़ी की पटरी पर सिर रखने की, या पिस्तौल की, या फांसी की रस्सी की। मेरे पास कुछ भी न था। मेरे सामने केवल एक ही मार्ग था, छत पर से कूद पड़ूँ और रोज रोज की मुसीबतों को सदा के लिए खत्म कर दूँ। मैं छत के किनारे खड़ी थी। ज़रा आगे बढ़ती, तो मौत की गोद में पहुंच जाती; पीछे हट आती, तो जिन्दा बच रहती। जीवन और मृत्यु को इतना पास-पास मैंने कभी नहीं देखा था। केवल एक पग का अन्तर था, आगे मृत्यु थी, पीछे जीवन। मगर मेरे लिए मृत्यु में जीवन की आशा और माधुरी थी, जीवन में मृत्यु की निशा और निराशा। मैंने दिल कड़ा कर के नीचे की तरफ देखा वहां मृत्यु का सन्नाटा और अँधेरा था। मेरा दिल कांप गया। मृत्यु की जो प्रकाश-पूर्ण मूर्ति मैंने दिल में अंकित की थी, वह इस अथाह अन्धकार में जाने कहां छिप गई! मेरे पांव रुक गए। कभी कभी मृत्यु भी दुनिया की प्रायः दूसरी चीज़ों के समान दूर से सुन्दर दिखाई देती है; मगर जब हम निकट पहुँचते हैं, तो उसका सौन्दर्य ग़ायब हो जाता है।

मैं उसी स्थान पर जीवन और मृत्यु के बीच बैठ गई और अपनी स्थिति पर विचार करने लगी। अब क्या करूं, 'किधर

जाऊं ? आशा के जीवन और जीवन की आशा को कहां ढूंढूं ? मेरे लिए इस विशाल संसार में कहीं भी स्थान न था। सहसा मृत्यु ने फिर अपनी भुजाएँ फैलाईं और मुस्कराई। मैं फिर मरने को तैयार हो गई। जो हताश हो, उस के लिए और उपाय ही क्या है ?

एकाएक ख़याल आया, पहले चलकर भाभी से दो-दो बातें तो कर लूं। ऐसी खरी-खरी सुनाऊं, कि तलमला उठे। क्या याद करेगी, कि किसी ने सुनाई थीं। सारी प्रेम-लीला भूल जायगी। इतना-सा मुंह निकल आयेगा।

मैं नीचे उतर आई और भाभी के कमरे की तरफ़ चली। इस समय अगर वह सामने आ जाती, तो मेरी अग्नि-पूर्ण दृष्टि उसे जलाकर भस्म कर देती। मगर…

मैं ने देखा, वह धीरे-धीरे दरवाजे की तरफ़ बढ़ी, और बाहर चली गई। मेरा कलेजा सन-से हो गया, मालूम हुआ कोई भयानक रहस्य खुलनेवाला है। मैं भी उस के पीछे-पीछे चली। देखूं, कहां जाती है, किस के पास, किस उद्देश्य से। जरूर कोई विशेष बात है, कोई गुप्त उद्देश्य, कोई पापमय विचार, जिसके लिए यह समय उचित समझा गया है। मैं इन्हीं विचारों में लीन चली जाती थी, कि वह हमारे मकान के पास ही जो मन्दिर है, उस के अन्दर चली गई, और देवी की मूर्ति के सन्मुख हाथ बांध कर खड़ी हो गई। मैं बाहर छिपी हुई उस की प्रार्थना का एक-एक शब्द सुन रही

थी। उस ने रोती हुई आंखों और कांपती हुई ज़बान से कहा—"देवी माता, मेरे पुत्र को स्वस्थ कर। वह मेरा देवर है, मगर मैंने उसे सदा पुत्र-तुल्य ही समझा है। उस की अज्ञान स्त्री का ख़याल कर। उस की बाली उमर है, उसकी आंखों की उदासी और हृदय की अशान्ति देख, और उसका सुहाग बनाए रख। मैंने उसे बचपन से खिलाया है, मेरे हाल पर दया कर। मैं मर जाऊँ; मगर वह बच जाए, यही मेरी प्रार्थना है।"

मेरी आंखें खुल गईं। अब सत्य मेरे सामने खड़ा था, कैसा आनन्दमय, कितना शान्ति-दायक! भाभी अन्दर देवी के सामने औंधे मुंह गिर कर रो रही थी, मैं बाहर अंधेरे में घुटनों के बल खड़ी शोक, लज्जा, क्षोभ और आनन्द के मिले-जुले आंसू बहा रही थी। जो आत्मिक उल्लास इन आंसुओं में था, वह बड़ी-से-बड़ी खुशी में भी नहीं।

दूसरे दिन मैं और भाभी उनके पास बैठी हंस-हंस कर बातें कर रही थीं। आज वह मुझे स्त्री न मालूम होती थी, देवी मालूम होती थी, जो दुनिया को पवित्र प्रेम-मार्ग दिखाने के लिए स्वर्ग से उतर आई हो। अब मैंने उसका मन पढ़ लिया था, उसका आत्मा देख लिया था। अब वह संदेह नाम को भी न रहा था। उन्होंने भाभी की तरफ़ देखा, और कहा—"आज तुम फिर यहां आगईं, क्या तुम्हें प्रकाश का भय नहीं है?"

भाभी—"भय तो है; मगर तेरा प्यार नहीं मानता।"

वह—"क्या मज़े से मेरी चारपाई पर बैठी हुई है, कोई देख ले तो क्या कहे, क्यों प्रकाश !"

मैं—"कहना क्या है, जो मां-बेटे की आंखें भी न पहचाने उसका अपना दोष है ?"

वह—"इसे कमरे से निकाल दूँ, तो कैसा रहे ?"

मैं—"मगर यह तो मेरे दिल में बैठ गई। इन्हें वहां से कौन निकालेगा ?"

उन्होंने मेरी तरफ़ मदभरी दृष्टि से देखा, और बोले—"अरे ! दिल में इसे बैठा लिया, तो मुझे कहां बैठाओगी ? बोलो !"

मैं—"तुम्हारे लिए इस देवी का दिल कम नहीं है। जो आदर और आराम तुम्हें यहां मिल सकता है, और कहीं न मिलेगा।"

भाभी ने मेरी तरफ़ मां की स्नेहमयी दृष्टि से देखा, और मुस्करा कर उन के सिर पर हाथ फेरने लगी।

अन्धकार

(१)

लाला रामनारायण अमृतसर के प्रसिद्ध व्यापारी थे, मिट्टी में भी हाथ लगाते तो सोना हो जाता। उन पर लक्ष्मी की विशेष कृपा थी। उनकी दो दुकानें थीं, एक कपड़े की, दूसरी अँगरेज़ी दवाइयों की। उन्हें दोनों से मुनाफ़ा होता था। किसी वस्तु का टोटा न था। भगवान् ने सब कुछ दिया था: मगर कुछ भी न था। उनके हाँ लड़कियां कई थीं, लड़का एक भी न था। यह पुत्र-अभाव उन्हें खाए जाता था, हर समय उदास रहते थे। बाहर जाकर तो कदाचित हँस बोल भी लेते हैं, पर घर में आते ही उनकी आंखें अग्नि-मय हो जातीं थीं। पार्वती समझती थी. इस में मेरा कोई दोष नहीं। अब लड़के लड़कियां पैदा करना किसी के अपने बस की बात थोड़ी है? परन्तु इस पर भी उसमें इतना साहस न था कि पति के सामने मुस्कराते हुए खड़ी हो जाय। वह घर में आते तो थर-थर कांपती रहती कि कहीं गरज न उठें। सोचती, मेरे ही भाग में आग लगी है, इसमें किसी का दोष नहीं। लोगों के यहां कई कई लड़के पैदा

होते हैं, पत्थरों के लिए मैं ही रह गई हूं। सास कहती, मेरे मोती जैसे बेटे को अभागिन मिल गई। चेहरा कैसा दमकता था, जैसे अनार का लाल दाना हो। पर अब वह बात ही नहीं। न होठों पर वह मुसकान है, न आंखों में वह ज्योति। देह पहले से आधी भी नहीं रही, अन्दर ही अन्दर घुला जाता है। रामनारायण यह बातें सुनते तो और भी दुखी हो जाते। कहते माँ! तुम ऐसी बात न किया करो। जो वस्तु भाग्य में न लिखी हो, उसके लिए रोना निष्फल है। मैंने समझ लिया है, हमारे वंश का नाम-निशान मिट के रहेगा, हमारे भाग्य में पुत्र-सुख नहीं लिखा। तुम कुढ़ती हो, मुझे रोना आता है। पार्वती यह बातें सुनती, तो उस के दिल में तीर से चुभ जाते। पहरों रोती और प्रारब्ध को गालियां देती रहती। वह भाग्यवान घर में आई थी, पर अभागिन बन कर। जैसे खीर के थाल में लाल-मिर्च पड़ जाय। उसे और सारे सुख थे, एक यही न था। उसने इलाज किया, साधु-सन्तों से भस्म की चुटकी ली, व्रत रखे। मगर भाग्यरेखा न बदली। यहां तक कि कई वर्ष बीत गए, परन्तु पार्वती का आशा-अंक पुत्र-मणि से न भरा। लड़कियां चार थीं, लड़का एक भी न था।

(२)

एक दिन गली में एक ज्योतिषी आया। बच्चों के लिए रीछ और स्त्रियों के लिए ज्योतिषी दोनों समान हैं। स्त्रियों

को तमाशा हाथ लग गया। बढ़ बढ़ कर हाथ दिखाने लगीं। ज्योतिषी बातें बनाता था, पैसे बटोरता था। कैसा अच्छा व्यापार है, किसी का माल नहीं बिकता किसी की बातें बिकती हैं। स्त्रियां पैसे देती थीं और हँसती थीं। मगर पार्वती घर बैठी अपने दुर्भाग्य को रो रही थी।

इतने में उसकी सास ने कहा "पार्वती! ज़रा इधर आकर तू भी पंडित जी को हाथ दिखा ले।"

पार्वती ने नैराश्य-भाव से उत्तर दिया—"हाथ दिखाने से क्या होगा?"

"मगर हर्ज ही क्या है? दिखा ले।"

पार्वती का जी न चाहता था कि हाथ दिखाए, परन्तु सास के भय से उसने उठ कर हाथ ज्योतिषी के सामने कर दिया। सब स्त्रियां चुप-चाप खड़ी हो गईं। यह हस्त-निरीक्षण न था, भाग्य-निरीक्षण था। ज्योतिषी ने हाथ की रेखाओं को देखा और धीरे से कहा—"तुम्हारे मन में हमेशा क्लेश रहता है।"

पार्वती की सास ने सिर हिला कर कहा—"ठीक है पंडित जी!"

ज्योतिषी—"पर यह क्लेश मन का है, शरीर का नहीं।"

सास—"यह भी सच है।"

ज्योतिषी—"इसके कन्याएं होती हैं। लड़का नहीं होता।"

स्त्रियों ने कहा—"देखा! यह विद्या की बातें हैं!, जो

चार अच्छर पढ़ जाते हैं, वह कहते हैं, जोतस सासतर सब झूठ है। अब कहो सच सच बताया या नहीं ?"

ज्योतिषी—"इसका पति भी बहुत दुखी रहता है।"

सास—"महाराज यह भी सच है !"

ज्योतिषी—"इसके और नछत्तर तो सब अच्छे हैं। केवल एक नछत्तर असुभ है। यह सब उसी का फल है।"

सास—"महाराज तो अन्तरजामी हैं। अब यह देखें, इसके भाग में बेटा है भी या नहीं।।"

ज्योतिषी ने अच्छी तरह देख कर उँगलियों पर हिसाब किया और इसके बाद शोक से सिर हिलाकर कहा-"नहीं।"

उत्तर साधारण था, पर पार्वती का दिल दहल गया। उसकी देह से पसीना छूटने लगा। जैसे उस के जीवन से जीवन की सकल आशाएं और उमंगें प्रस्थान कर गई हों। उसने हतभागों की तरह भूमि की ओर देखा और रुक रुक कर पूछा—"इसका कुछ उपाय भी है, या नहीं।"

ज्योतिषी—"उपाय तो है, परन्तु करना बड़ा कठिन है।"

पार्वती—"मैं सब कुछ कर लूंगी"

ज्योतिषी—"रात को श्मशान में बैठ कर जाप करना होगा। कर सकोगी ?"

पार्वती का चेहरा फीका पड़ गया। आशा सामने आई थी, ओझल हो गई। पार्वती फिर उदास हो गई, जैसे कोई बाज़ी जीतते जीतते रह जाए।

ज्योतिषी—"तुम उदास न हो। तुम्हारी खातिर यह काम मैं कर दूँगा। भय बहुत है। सिद्धि के समय भूत सामने आकर खड़े हो जाते हैं। अजान आदमी सहम कर मर जाए। परन्तु भूत हमारा क्या बिगाड़ लेंगे। चाहें, तो पल भर में भस्म कर दें। हमारे शब्दों में आग है। एक मंत्र पढ़ें तो चिल्ला कर भाग निकलें।"

पार्वती की आंखें आशा-पूर्ण हो गईं, जैसे देवी का वर-दान मिल गया हो। सास का चेहरा आशा की आभा से लाल था। उसे विश्वास हो गया, कि अब के ज़रूर लड़का होगा। करामाती पण्डित रेख में मेख मार सकता है। ज्योतिषी जी की खातिर होने लगी। उसने जो कुछ मांगा, वही दिया। पार्वती और उसकी सास नहीं न करती थीं। कभी काले बकरे के लिए रुपया मांगता, कभी सोने चांदी के लिए। उसे आज तक न ऐसा अमीर घर मिला था न ऐसे अन्धे श्रद्धालु। दोनों हाथों से लूटता था। और वे लुटवाते थे। हर मंगलवार को ग़रीबों में रोटियां बांटी जाती थीं। ज्योतिषीजी ने पार्वती को एक मन्त्र सिखा दिया था। वह नहा कर पन्द्रह मिनट जाप करती थी। खाना भूल सकता था, मगर इस मन्त्र का जाप न भूल सकता था। अब इस मन्त्र ही पर जीवन की सारी अभिलाषाएं अवलम्बित थीं। सदा शंका लगी रहती—कहीं यह कच्चा तागा टूट न जाए। वह इसे प्राण पण से बचा बचा कर रखती थी। यहां तक कि मन्त्र की

परीक्षा का दिन समीप आ गया। अब कुछ ही दिन बाक़ी थे।

(३)

पार्वती की रात दिन खातिरदारियां होने लगीं। घर के लोग उसे कोई काम न करने देते थे; कहते आराम से बैठी रहो, सब कुछ हो जाएगा। लाला रामनारायण ने कभी उससे सीधे-मुँह बात भी न की थी। अब हँस हँस कर बोलने लगे, जैसे उस से मन-मुटाव था ही नहीं। मुँह हर समय खिला रहता। पार्वती को कभी तांगे की सैर कराने ले जाते, कभी थियेटर दिखाने। कहते, जो जी में आए, मांग लिया करो, मन मार के रह जाना स्वास्थ्य को खराब कर देता है। पार्वती को यह नौ महीने गुज़रते मालूम न हुए। संसार के सारे सुख, सारे आराम पर्याप्त थे। जो कहती वही हो जाता। किसी को दम मारने की मजाल न थी। पहले दासी थी, अब रानी बनी। सास जो दिन-रात हृदय वेधी ताने मारती थी, अब ऊँची आवाज़ से बोलते हुए भी डरती थी। कहीं पार्वती क्रोध न कर बैठे, कहीं उसका जी न खराब हो जाए। पार्वती की ऐसी ख़ातिर, ऐसी खुशामद कभी न हुई थी।

एक दिन रामनारायण बोले --"ज्योतिषी कहता है, सौ रुपये से एक पैसा कम न लूँगा।"

पार्वती—"वह समय तो आ ले, देखा जाएगा।"

रामनारायण—"मेरा दिल कहता है, अबके लड़का ही होगा।"

पार्वती—"लच्छन तो मुझे भी अच्छे ही मालूम होते हैं। दिल में ऐसे ऐसे विचार आते हैं, कि तुम से क्या कहूँ।

रामनारायण—"बस, बस ठीक है! लड़का ही होगा।"

पार्वती—"जी चाहता है, फल और मिठाइयां ही खाती रहूं। रोटी की तरफ़ देखने से भी घृणा होती है।"

रामनारायण—"खटाई पर दिल तो नहीं दौड़ता?"

पार्वती—"कभी ख़्याल ही नहीं आता।"

रामनारायण—"जी कैसा रहता है?"

पार्वती—"बहुत प्रसन्न। पहले सदा उदासी छाई रहती थी। अब सुसती नाम को नहीं। जी चाहता है, सारे दिन सैर किया करूँ। ऐसी दशा मेरी आजतक कभी न हुई थी।"

रामनारायण—"मेरा दिल भी यही कहता है कि अबकी जरूर लड़का ही होगा।"

पार्वती—(हँस कर) "अगर लड़का हुआ, तो मुझे क्या दोगे?"

रामनारायण—"जो मांगोगी, वही दूंगा। तुमसे बाहर थोड़ा हूँ।"

पार्वती—"हीरे का हार मँगवा दोगे?"

रामनारायण—"अरे! हीरे का हार!"

पार्वती—"बस, बस! इतना ही देखना था। देख लिया।"

रामनारायण—"तुम तो वकीलों की तरह जिरह करती हो।"

पार्वती—" चलो रहने दो। मैं तुम्हारा दिल देखती थी। मुझे हार की क्या पड़ी है। तुम्हारी खुशी मिल जाए, यही सब कुछ है!"

रामनारायण—"मैं तुम से कभी नाराज़ नहीं हुआ।"

पार्वती—"क्यों झूठ बोलते हो ? तुम्हारी तो आंखें ही बदल गई थीं। मैं अनपढ़ हूँ, पर अंधी नहीं हूँ! आंखें पहचानती हूँ।"

रामनारायण—"तुम्हें धोखा हुआ होगा।"

पार्वती—"ख़ैर! यह भी देखा जाएगा।"

इसी तरह नौ महीने बीत गए। प्रसव-काल आ पहुँचा। रामनारायण बाहर बैठे घबराते थे, उन की मां अन्दर घबराती थी। ज्यों ज्यों समय गुज़रता जाता था, उनकी उत्सुकता बढ़ती जाती थी। देखें क्या हो, क्या न हो ? चेहरे का रंग क्षण क्षण में बदल रहा था। कभी आशा, कभी निराशा, कभी व्याकुलता। उन की सकल इच्छाएं, समस्त उल्लास; सारे उद्गार आंखों में आ बैठे थे। उन के जीवन का आधार अब केवल एक शब्द पर था। यह खेती एक छींटे की प्यासी थी। यह लता एक झोंके की भूखी थी।

सहसा अन्दर से नवजात बालक के रोने की अवाज़ आई। रामनारायण चौंक कर खड़े हो गए, और सवेग

अंदर को चले। वे अभी आंगन ही में पहुंचे थे, कि मां बाहर निकल आई। इस समय उस की आंखों में आंसू था, मुँह पर क्रोध। जैसे अग्नि की ज्वाला में पानी की बूँदें जल रही हों। रामनारायण के पाँव वहीं रुक गए। अब उन में आगे बढ़ने की शक्ति न थी। यह लम्बा सफ़र यह सुदूर यात्रा कितनी आशाओं को लेकर तय की थी। सब निराशा की भेंट हो गई। हृदय क्षेत्र को पानी का छींटा न मिला। आशालता को वायु का झोंका पर्याप्त न हुआ।

(४)

फिर लड़की! रामानारायण का सिर चकराने लगा। निराशा जब चरम-सीमा पर पहुँच जाती है, तो हमारी जीभ बन्द हो जाती है। रामनरायण भी चुप हो गए। बहुत देर के बाद बोले—"अब तो जी चाहता है, कहीं निकल जाऊं। यहां मेरे दिल को शान्ति न मिलेगी?"

मां—"धीरज धरो। घबराने से क्या होता है?"

रामनारायण—"वह ज्योतिषी मिल जाए, तो मुंह नोच लूं। मुझे तो उस पर पहले ही विश्वास न था, मगर तुम्हारे ख़्याल से चुप रहा। हज़ारों पर पानी फिर गया।"

मां—"मुझे क्या पता था, सब धोखा ही धोखा है?"

रामनाराण—"कहता था, जाप करूंगा, तो लड़का हो जायगा। सब वाहियात ढकोसले हैं। ऐसे महात्मा होते, तो मांगते क्यों फिरते। घर बैठे पांव पुजवाते।"

मां—"बेटा! जब अपने ही कर्मों में न हो, तो कोई क्या करे? आदमी तो बुरा न था। जो जो बात थी, खोल कर कह दी। सारा मुहल्ला वाह वाह कहता था। एक यह बात झूठ निकली। बाकी सब सच निकला।"

रामनारायण—"हमारे भाग ही खोटे हैं। अब मुझे आज्ञा दो, साधु हो कर कहीं निकल जाऊँ। घर में रहा तो पागल हो जाऊँगा।"

मां—"कैसी बातें मुंह से निकालते हो तुम? भाग तुम्हारे क्यों खोटे होने लगे? भाग उस अभागिन के खोटे हैं, जिसे राज-सिंहासन पर बैठ कर भी आराम न मिला। मेरी मानों तो अब दूसरा ब्याह कर लो; इस से लड़का न होगा। बहुत बरदाश्त किया, अब नहीं सहा जाता।"

रामनारायण—"मैं मर जाऊंगा, पर यह न करूंगा। मैं आदमी हूं राक्षस नहीं हूं।"

मां—"अरे! मैं उसे घर से निकाल देने को थोड़ा कहती हूँ। यह भी पड़ी रहेगी। लोग दूसरा ब्याह लड़के के लिए करते हैं, शौक के लिए नहीं करते। अगर इस से लड़का हो जाता तो हमारा सिर फिरा हुआ था।"

रामनारायण—"अब जो प्रारब्ध ही में न हो, तो क्या किया जाए?"

मां—"इसी लिए तो कहती हूँ, दूसरा ब्याह कर लो। परमेश्वर कृपा करेगा।"

यह बातचीत पार्वती ने सौर-गृह में लेटे लेटे सुनी। वह पहले ही मर रही थी, यह बात-चीत सुन कर और भी मर गई। उसे विश्वास हो गया, कि अब यह व्याह कभी न रुकेगा। आने वाले दिन आंखों तले फिर गए। सोचने लगी, क्या होगा? अभी यह हाल है, तो व्याह के बाद क्या होगा? सभी दुतकारेंगे। सब नई बहू को पूछेंगे। मुझे कोई भी न पूछेगा। यह अनादर, यह अपमान, यह तिरस्कार कैसे सहूँगी? पार्वती ने अपने सिर पर ज़ोर से थप्पड़ मारा, और रो कर कहा—"परमात्मा! अब तो उठा लो। यह नहीं सहा जाता।"

हम रोते हैं इस लिए, कि दूसरे हमें चुप कराएँ; इस लिए नहीं कि हमें और भी रुलाएँ। पार्वती इसी ख़्याल से रोई थी। लेकिन उस की सास ने जब यह शब्द सुना, तो वे और भी लाल-पीली हो गईं और उच्च स्वर में सुना कर बोलीं—"तेरे भाग में मौत नहीं, मौत तो हमारे भाग में है। बैठी राज करती है, और छाती पर-मूंग दलती है।"

यह शब्द नहीं थे, ज़हर में बुझे हुए तीर थे। पार्वती की आंखें अग्नि-मय हो गईं। उस की सारी देह जलने लगी। रगों का रुधिर इस तरह खौलता था, जैसे कढ़ाई में तेल खौलता हो। सहसा रामनारायण अन्दर आ गए, और प्यार से बोले—"पार्वती! धीरज धरो। लड़के लड़कियां दोनों बराबर हैं। माता जी जोश में आकर जो जी में आता है, कह देती हैं।

मगर उन की नीयत खोटी नहीं। भोली हैं, इतना नहीं समझतीं कि जिन के यहां बेटे नहीं होते, वह मर थोड़ा ही जाती हैं। तुम ऐसी बातों की चिन्ता न किया करो, नहीं बीमार हो जाओगी।"

पार्वती चौंक पड़ी। उसे आश्चर्य था, कि यह मीठे शब्द रामनारायण के मुंह से कैसे निकले? वह आज तक यही समझती थी, कि यह बेटे का मुंह देखने को तरस रहे हैं। अभी अभी मां-बेटे में जो जो बातें हो रही थीं, उन से भी यही प्रकट होता था। एकाएक यह परिवर्तन क्यों? पार्वती ने बहुत सोचा मगर कोई बात उस की समझ में न आई। उसे आश्चर्य हुआ। पर इस आश्चर्य से बढ़ कर प्रसन्नता हुई। उस ने कातर दृष्टि से अपने पति की तरफ़ देखा, और आंखें बन्द कर लीं। उसके सब पराए थे, केवल पति अपना था। मगर उसके लिए यही सब कुछ था।

(५)

परन्तु कुछ दिन के बाद पति भी अपना न रहा। रामनारायण ने दूसरा ब्याह कर लिया। पार्वती पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। उससे कोई सीधे मुँह बात भी न करता था: सब नई दुलहिन की सेवा में लगे रहते थे। अब नई दुलहिन घर की सब कुछ थी, पार्वती कुछ भी न थी। यहां तक कि उसका मान दासियों के बराबर भी न था। अब वह किसी काम में दख़ल न देती थी। चुपचाप अपनी कोठरी

में पड़ी रहती। जो मिलता, खा लेती; जो हाथ आता पहन लेती। अब उसे किसी की कड़वी बात पर क्रोध न आता था; न जली कटी बातें सुन कर आंखें सजल होती थीं। कभी ज़रा से कटु-भाषण पर उसके शरीर में आग लग जाती थी। उस समय वह घर की रानी थी। मगर अब उसका सिंहासन छिन चुका था। अब उसके पति ने उसे अपने मन-मन्दिर से निकाल दिया था। अब वह रानी नहीं थी, भिखारिन थी। भिखारिन को क्रोध करने का अधिकार किसने दिया है? परमात्मा ने भी नहीं। भिखारिन कुछ दिन मुफ्त की रोटियां तोड़ती रही, फिर काम करने लगी। पहले रानी से भिखारिन बनी थी, अब भिखारिन से दासी बनी।

उधर दयावती सारे घर पर शासन करती थी। वह हँसती, तो घर के लोग साथ हँसते। उदास होती, तो घर के लोग उदास हो जाते। ज़रा तेज़ चलती, तो सास कहती, बेटी! सम्भल के चलो, नहीं पांव दुखने लगेंगे। ऊपर से नीचे उतरती, तो कहती, कमर दर्द करने लगेगी। उसका ज़रा सा सिर दुखता, तो रामनारायण की जान पर बन जाती। भागे भागे डाक्टर के पास जाते, और दवाओं की शीशियां उठा लाते। ननदें दयावती पर प्राण देती थीं। क्या मजाल जो उसकी इच्छा के विरुद्ध एक शब्द भी मुँह से निकल जाए। परन्तु इतना कुछ होने पर भी दयावती

खुश न थी। उसके दिल में हर समय बुरी बुरी भावनाएं उठा करतीं। एकान्त में बैठती, तो फूट फूट कर रोया करती। उसे हँसते मुसकराते देखकर किसी को सन्देह भी न हो सकता था कि उसके दिल में कोई प्राणघातक जलन, कोई दुःखदायक पीड़ा होगी। ऊपर ठंडा पानी लहरें मारता था, नीचे आग सुलगती थी।

रात का समय था। पार्वती ने बरतन साफ़ किए, रसोईघर धोया, और छोटी लड़की को लेकर अपनी कोठरी में चली गई। मगर उसके शरीर का एक एक अंग दर्द कर रहा था। दूसरे दिन जागी, तो सारा शरीर तप रहा था, और सिर उठाए न उठता था। पार्वती चुपचाप लेटी रही। उसमें हिलने की हिम्मत न थी, यहां तक कि नौ बज गए, और चूल्हा गरम न हुआ। लड़कियां रोटी मांगती थीं और रोती थीं। पार्वती उनकी तरफ देखती थी, और कराहती थी। यह हृदय-विदारक दृश्य देखकर दयावती का दिल पसीज गया। वह दयावती थी, उसमें दया का अभाव न था। उसने मुँह से कुछ न कहा, परन्तु रसोईघर में जाकर रसोई बनाने लगी।

इतने में पार्वती की सास ने पार्वती की कोठरी के बाहर आकर कहा—"परमात्मा करे! ऐसी बहू किसी को न मिले। खाने को हर घड़ी तैयार है, काम का ध्यान ही नहीं। नई

दुलहिन बैठी काम करती है, यह रानी सेज पर लेटी है। कोई देखे, तो क्या कहे ?"

पार्वती ने कराह कर उत्तर दिया—"क्या करूँ ? बुखार हो रहा है।"

सास—"यह सब बहाने मैं खूब जानती हूँ। बुखार उखार कुछ नहीं है। बहाना है, बहाना !"

पार्वती—"माजी ! बहाना तो मैंने आज तक कभी नहीं किया।"

सास—"बड़ी सतवन्ती स्त्री है न तू। बहाना क्यों करने लगी ? कल सांझ तक बुखार न था, अब कैसे होगया।"

पार्वती—"अब यह मैं क्या जानूं ? रात को देह दर्द करती थी।"

सास—"देखना ! कहीं निमोनिया न होजाय।"

पार्वती—"हो जाए, तो क्या कहना ! मगर निमोनिया भाग्यवानों को होता है। अभागों को वह भी नहीं होता।"

सास—"भाग्यवान तो मैं ही हूँ, अब मुझे मार। मुरदार गालियां देती है।"

पार्वती—"आप तो लड़ती हैं। मैंने यह कब कहा है ?"

सास—"मेरा सिर फिरा हुआ है न।"

पार्वती—"शायद फिरा ही हो।"

आग पर तेल पड़ गया। सास ने गरज कर कहा—"अगर फिरा हुआ न होता, तो तेरे जैसी कम-जात लड़की

को कैसे ब्याह लाती। परनाले का पत्थर चौबोर में लग गया।"

पार्वती कमजात का शब्द सुन कर क्रोध न रोक सकी। बोली—"जाओ! भीतर जाकर बको, मैं तो यों ही मर रही हूं। इलाज का ध्यान नहीं, लड़ने की धुन सवार होगई। परमात्मा ऐसी सास दुश्मन को भी न दे।"

अब सहन करना सम्भव न था। पार्वती की सास रोने लगीं। और इतने जोर से कि सारा मुहल्ला जमा हो गया। चीख़ चीख कर कहती थी—"बहनो! इस निर्लज्ज बहू ने मेरी पत उतार दी। मेरा जरा भी लिहाज नहीं किया। रात को कहीं बुख़ार हो गया था। मैंने आकर पूछा हकीम को बुला लूँ। बस इतनी सी बात पर गालियां देने लगी। बोली, तुम्हें मेरे बुखार की क्या परवा है। तुम्हें उस समय मालूम होगा, जब तुम्हारे बेटे को और उसकी बेगम को बुखार चढ़ेगा। तब पूछूँगी, क्यों माँ! अब हकीम को बुलवाऊँ। मैंने कहा—मुझे गालियां दे लो, पर उस गऊ ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है। इस पर नाम ले ले कर रोने लगी, और मुझे कोसने लगी। वह ग़रीब न लेने में, न देने में। अब तुम ही कहो, मैंने क्या बुरा किया।"

मुहल्ले की सब स्त्रियां चुप थीं। वह जानती थीं, पार्वती ऐसी स्त्री नहीं। परन्तु उन्होंने मुँह से कुछ नहीं कहा। हम दुखिया के पक्ष में होते हुए भी उसकी सहायता नहीं करते।

उलटा बाज़ वक्त उसके विरुद्ध बोल देते हैं। यही दशा स्त्रियों की थी। उन के दिल कहते थे, पार्वती निर्दोष है। सारा महाभारत बुढ़िया का मचाया हुआ है। मगर फिर भी उनमें सच बोलने का साहस न था। हम अपने लिए झूट बोल सकते हैं, पर दूसरों के लिए सच भी नहीं बोल सकते।

सारा दिन बीत गया, पार्वती को कोई दवा न मिली। न उसके पास जाकर किसी ने देखा, कि ग़रीब जीती है, या मरती है। रामनारायण खाना खाने आए, और दूकान को चले गए; सास धूप में लेटी रही; ननदें क्रोशिया लिए रूमाल बुनती रहीं। केवल पार्वती की अबोध लड़कियां थीं, जो कभी उसके पास जा बैठती थीं, कभी बाहर निकल आती थीं। इन के अतिरिक्त एक और प्राणी भी था, जो उसका सुखदुःख अनुभव करता था। और वह दयावती थी।

(६)

हां वह दयावती थी—पार्वती की सौत। वह पार्वती के लिए तड़पती थी, पार्वती के लिए रोती थी, मगर कुछ कर न सकती थी। वह इस घर में नई थी। उसे कोई कुछ कहता न था, वह स्वयं लज्जा से चुप रहती थी। उसे भय न मारता था, संकोच मारता था। हमारा दिल हमारा सब से बड़ा दुश्मन है।

रात के दो बजे का समय था। पार्वती अपनी कोठरी में बेसुध पड़ी थी। एक ओर एक धुँधला सा दिया टिमटिमा रहा था, मगर उसका तेल समाप्त होचुका था, और उसका प्रकाश धीरे धीरे मर था। यह मिट्टी का दिया न था, पार्वती के भाग्य का दिया था। कैसा तुच्छ, कितना छोटा! इसका प्रकाश अन्धकार में किस तरह विलीन हो रहा था? इसका जीवन मृत्यु के मुँह में किस तरह भागता हुआ जा रहा था?

इतने में दरवाज़ा खुला, और दयावती धीरे धीरे अन्दर आई। उसने पार्वती के चेहरे को देखा, और ठण्डी आह भर कर उसके सिरहाने बैठ गई। इसके बाद उसने पार्वती का सिर अपनी जँघा पर रख लिया, और उसके बालों में प्यार से उंगलियां फेरने लगी।

पार्वती ने घबरा कर आंखें खोल दीं और कहा—"कौन!" उसको आशा थी, यह रामनारायण होंगे। दिन में मां के ख़्याल से नहीं आए, अब आए हैं। अपना फिर भी अपना है, पराया कैसे हो जायगा? मगर मुँह मोड़ कर देखा, तो सन्नाटे में आ गई। यह रामनारायण न थे, दयावती थी। पार्वती की आंखों में पानी आ गया। उसने एक क्षण तक दयावती के मुह की तरफ़ ताका, और फिर उसके गले से लिपट गई। उसने जिन्हें अपना समझा था, वह पराए

निकले। मगर जो पराया था, वह अपना बन गया। दुनिया के रास्ते कैसे निराले, कितने अद्भुत् हैं ?

दयावती ने पार्वती को चारपाई पर लिटा कर पूछा—"कोई दवा नहीं खाई ?"

पार्वती—"नहीं मेरी परवा किसे है, जो दवा खाऊँ।"

दयावती—"तो बुखार कैसे उतरेगा ?"

पार्वती—"भगवान उतार देगा।"

दयावती—"नहीं। तुम्हें दवा खानी होगी। इस घर के आदमी सभी राक्षस हैं। बहन ! तुम्हें विश्वास न होगा, मैं तुम्हारे लिए सारा दिन कुढ़ती रही हूँ। तुम्हारे साथ सख्ती होती है, तो मेरा दिल रोने लगता है। जी चाहता है, तुम्हारे गले से लिपट जाऊं। पर घर वालों का ख्याल रास्ते में खड़ा हो जाता है। सोचती हूँ, क्या कहेंगे। सौ सौ बातें बनाएंगे। मगर अब यह बेपरवाई न होगी।"

पार्वती ने धुँधले दिये की तरफ देखते हुए कहा-"बहन ! अब तो जी चाहता है कुछ खा कर सो रहूं। सब कुछ देख लिया और क्या देखूंगी। अब यह अधोगति नहीं सही जाती। अब तो मौत ही आजाए।"

दयावती—"अधीर क्यों होती हो ? यह दिन भी गुज़र जाएंगे।"

पार्वती—"प्रारब्ध में यह लिखा है, यह मालूम न था। मालूम होता तो जोगिन बन जाती।"

दयावती—"जोगिन बनना इतना ही आसान होता, तो आज संसार में चारों तरफ़ जोगिनें ही जोगिनें नज़र आतीं।"

पार्वती—"आज का हाल तो तुम ने स्वयं देख लिया होगा। बताओ, मेरा क्या दोष है।"

दयावती—"खूब देख लिया, ज्यादती सारी उन की है। तुम्हारा दोष नहीं है, इसे सारा जहान जानता है।"

पार्वती—"कहने लगीं, गालियां देती है।"

दयावती—"अब लड़कियां होती हैं, तो इस में तुम्हारा क्या पाप? यह कोई अपने बस की बात थोड़ी है?"

पार्वती—"वह तो यही समझते हैं, कि यह जान बूझ कर लड़कियां जनती है।"

दयावती—"आदमी को कुछ तो समझना सोचना भी चाहिये।"

पार्वती—"जब देखो, तने रहते हैं।"

दयावती—"और तुम्हारा कोई दोष नहीं।"

पार्वती—"जीना दूभर हो गया। हर समय सहमी रहती हूँ।"

दयावती—"पर मेरी तरफ़ से मन साफ़ कर लो। मैं तुम्हें बड़ी बहन समझती हूँ।"

पार्वती—"मेरा मन तुम से पहले ही साफ़ है।"

दयावती—"मेरे कारण तुम्हें ज़रा भी कष्ट न होगा।"

पार्वती ने दयावती को गले लगा लिया और स्नेह-पूर्ण स्वर में कहा—"तूने मुझे बचा लिया। मैं समझती थी, इस घर में मेरे दुश्मन ही दुश्मन हैं, हित-चिन्तक कोई नहीं। परन्तु तूने मेरा विचार बदल दिया। अब मुझे इतनी शान्ति है, कि कम से कम मुझे तू तो बे-गुनाह समझती है।"

सहसा दिया बुझ गया। चारों तरफ़ अन्धकार फैल गया। इस अन्धकार में पार्वती और दयावती दोनों छिप गईं। क्या उनके भाग का दिया भी बुझ जाएगा?

(७)

पार्वती महीना भर बीमार रही। दयावती ने सेवा सुश्रूषा में दिन रात एक कर दिया। उसे हर समय यही चिन्ता रहती थी, कि पार्वती किसी तरह बच जाए। वह उसके सिराहने से न उठती थी। नियत समय पर दवा देती, समय पर दूध। रात को सोते सोते चौंक उठती, और उसे देखती, कि सोती है, या जागती है। ऐसी चिन्ता, ऐसी व्यग्रता, ऐसी उत्सुकता से किसी मां ने अपने बच्चे का इलाज भी कम किया होगा। उसे सास समझाती थी, पति रोकता था। मगर वह किसी की सुनती न थी। कहती इस की सेवा मैं करूँगी। यह दुखिया है। इस के मन-मन्दिर

में प्रेम की जोत जलती है। इसने मेरा मन मोह लिया है। पार्वती की लड़कियां दयावती की आवाज सुनतीं, तो उनकी तबीयत हरी हो जाती और इस तरह लपक कर आतीं, जैसे वह उनकी मां हो। उनके रहने-सहने का, खाने-पीने का सब प्रबन्ध वही करती थी। यह स्वर्गीय प्रेम, यह विशुद्ध, निर्मल, पवित्र दृश्य देखकर सारा मुहल्ला चकित था। ऐसी उदारता, ऐसी श्रद्धा, ऐसी प्रीति इस स्वार्थ-मय संसार में, इस द्वेष पूर्ण दुनिया में उन्होंने पहले न देखी थी। सौत को देखकर स्त्री के शरीर में आग लग जाती है। उसकी आंखों से क्रोध की चिनगारियां निकलने लगती हैं। यहां वही सौत सौत की सेवा करती थी। यह प्रेम कितना महान् कितना उत्कृष्ट, कितना स्वच्छ था। इसमें आत्मसमर्पण था, विषय-वासना न थी; सेवा का शौक था, फल की इच्छा न थी। यह पति-पत्नी का प्रेम न था, दो महिलाओं का स्नेह था। यह दो सौतों का प्यार न था, दो सखियों की प्रीति थी।

धीरे धीरे पार्वती की देह में ताक़त आने लगी। दयावती ऐसी खुश थी, जैसे कोई राज्य जीत लिया हो। अब वह दो सखियां थीं; सारे दिन एक जगह बैठी रहतीं और बातें करतीं। दयावती सोचती, यह दुखिया है, इस से अन्याय हो रहा है। पार्वती सोचती, मेरी सौत है, तो क्या हुआ, पर इसका दिल प्रेम का सागर है। मुझे देखकर खुश हो जाती है। मेल ने दोनों को प्रेम-सूत्र में बांध दिया। कुछ

देर सखियां बनी रहीं, फिर बहनें बन गईं। पार्वती से सास का व्यवहार वैसा ही कठोर था। परन्तु रामनारायण कभी कभी हंस कर भी बोल लेते थे। और दयावती सब की आंखों की पुतली थी।

इसी तरह एक वर्ष बीत गया। पार्वती कुछ महीनों के लिए मायके गई। लौटी तो दयावती की अवस्था ही और थी। न गालों पर वह मोहनी थी, न आंखों में वह जादू। ऐसा मालूम होता था, जैसे दयावती वह दयावती ही नहीं। पार्वती सोलह साल की सुकुमारी छोड़ कर गई थी, अब उसे चालीस साल की बुढ़िया मिली। पार्वती पर वज्राघात हुआ। उसने दयावती का हाथ पकड़ा और उसे एकान्त में ले गई। वहां जाते ही बोली --"यह तुझे क्या हो गया ?"

दयावती--" हुआ तो कुछ भी नहीं।"

पार्वती--" पहचानी नहीं जाती। तेरी तो सूरत ही बदल गई।"

दयावती—" चल झूठी ! मुझे छेड़ती है। तेरी आंखें बदल गई होंगी।"

पार्वती—" गालियां देती है। ज़बान भी बदल गई।"

दयावती–" अब तुम से बातों की बाज़ी में तो मैं कभी न जीतूंगी।"

पार्वती-" अच्छा तो ठीक ठीक बता दे; छिपाने से कुछ न होगा।"

दयावती-" तुम्हारे वहम का इलाज कौन करे ?"

पार्वती-" सास से लड़ाई तो नहीं हो गई ?"

दयावती-" बिलकुल नहीं। वह मुझे मां से भी ज्यादा चाहती हैं।"

पार्वती—" उन से झगड़ा हो गया है।"

दयावती—" वह ऐसे आदमी ही नहीं।"

पार्वती—" बीमार रही है क्या ?"

दयावती—(हंसकर) "ठंडा बुखार चढ़ता रहा है।"

पार्वती—" तो मालूम हुआ, मुझसे छिपाती है। अब न पूछूंगी।"

दयावती रोने लगी। उसको ऐसा मालूम हुआ कि उस के शरीर को तोड़ कर प्राण-पंछी बाहर निकल जाएगा। सिसकियां भरते हुए बोली—" बहन मुझे कोई रोग नहीं है। मुझ से किसी ने दुर्व्यवहार नहीं किया। मुझे चिन्ता-रोग खा रहा है। मुझे भय हो रहा है कि यह आदर, प्यार, आनन्द के दिन कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। इस सावन की धूप पर कोई विश्वास नहीं। इसकी आयु बहुत थोड़ी है। आज मुझे सब सिर आंखों पर बैठाते हैं। लेकिन यह मान, यह सत्कार मेरे लिए नहीं, लड़के के लिए है। उनको लड़के की चाह ने दीवाना बना रखा है। सोचती हूं अगर मेरे भी लड़की हो गई, तो फिर क्या होगा ? सबकी आंखें बदल जाएंगी। यह चिन्ता है, जो मुझे अन्दर ही अन्दर

खा रही है। मैं इस दुःख से घुली जा रही हूं। और मुझे विश्वास हो गया है कि मेरे लड़की ही होगी, और मैं न बचूँगी।"

यह कह कर दयावती रोने लगी। पार्वती के शरीर के रोंगटे खड़े हो गए। उस के मुंह से कुछ न निकला। एक शब्द भी नहीं। न हां, न ना। उसने दयावती का सिर खींच कर अपने गले से लगा लिया और रोने लगी। मगर उसका दिल कह रहा था-" अगर तू मरी, तो मैं भी जीती न रहूंगी।"

आखिर वह दिन आ गया, जिसकी सब को प्रतीक्षा थी। रामनारायण ने दोनों बहनों को बुला भेजा था। एक दाई रखी, एक लेडी डाक्टर। खाना बनाने के लिए एक स्त्री अलग थी। लेडी डाक्टर ने कह दिया था, लड़का होगा। रामनारायण ऐसे खुश थे, जैसे किसी भिखारी को राज-सिंहासन मिल जाय; उछलते फिरते थे। उन के पांव धरती पर न पड़ते थे। नौकरों से कहा-इनाम मिलेगा। मुहल्ले वालों से कहा, मिठाई बांटेंगे। इष्ट मित्रों से भोज देने की प्रतिज्ञा की।

संध्या का समय था। रामनारायण के घर में स्त्रियां दौड़ती फिरती थीं। कानों पड़ी आवाज सुनाई न देती थी। लेडी डाक्टर सख़्ती के साथ हुक्म देती थी, और लड़ती थी। मगर कोई बुरा न मानता था। कहीं गरम पानी पड़ा

था, कहीं रूई के फाहे कतर जा रहे थे। पार्वती उड़ी फिरती थी। दिल में प्रार्थना करती थी, कि दयावती के लड़का हो, लड़की न हो। अगर लड़की हुई तो हम दोनों की मौत है। अब तो केवल मैं ही अभागिन हूं, फिर दयावती को भी कोई न पूछेगा। अभी उसकी खातिर कभी कभी कोई मेरी भी सुध ले लेता है, फिर यह बात भी न रहेगी।

रामनारायण दरवाज़े में बैठे माला फेरते थे, और प्रार्थना करते थे, कि प्रभु यह नैय्या पार लगा दे। कभी कभी यह भी विचार आता था, कि पार्वती से अन्याय हुआ है। लड़का हो जाए, तो उस के साथ जरा सख़्ती न करूं। ऐसी एकाग्रता, ऐसी लगन, ऐसी श्रद्धा से उन्हों ने कभी प्रार्थना न की थी। संकट हमें परमात्मा का भक्त बना देता है। वैभव में परमात्मा का कभी ध्यान ही नहीं आता। एकाएक अंदर से कुछ आवाजें आईं। रामनारायण ने माला के मनके ज़ोर ज़ोर से फेरने शुरू कर दिए। घबराए हुए कहते थे, परमात्मा कृपा करो। तुम्हारे बिना और किसी का सहारा नहीं। इतने में रामनारायण की मां आ कर दरवाज़े पर खड़ी हो गई। रामनारायण ने पूछा—"क्या हुआ?"

मां ने धीरे से जवाब दिया—"लड़की।"

रामनारायण की उठती हुई उमंगें बैठ गईं। जैसे कबूतर उड़ना चाहता है, और बाज़ को ऊपर मंडलाते देख कर फिर

वहीं बैठ जाता है। उन्हों ने माला धरती पर पटक दी और निराशा से इधर उधर टहलने लगे। किसी सेठ को अपना सर्वस्व लुट जाने पर भी इतना दुःख न होता।

थोड़ी देर बाद दयावती के पास लेडी डाक्टर और पार्वती के सिवाय कोई भी न था। सब रामनारायण के गिर्द जमा थे। कोई शोक प्रकट करता था, कोई सांत्वना देता था। मगर रामनारायण बिल्कुल चुप थे। चारों तरफ़ देखते थे, और ठंडी सांसें भरते थे। दयावती का किसी को भी ख़्याल न था।

सहसा पार्वती कमरे में आई और बोली—"दयावती मर गई।"

रामनारायण बैठे थे, यह सुन कर खड़े हो गए, और बोले—"क्या कहा तुमने ?"

"दयावती मर गई। नवजात लड़की की भी कोई आशा नहीं।"

सारे घर में कुहराम मच गया। रामनारायण, उनकी मां, उनकी बहनें सब रोने लगीं। उनके आर्तनाद से दुश्मनों के कलेजे भी छलनी होते थे। इस तरह रोती थीं जैसे उनका लड़का मर गया है। केवल पार्वती की आंख में पानी न था। वह कहती थी, कैसे छलिये हैं। दिल में दया नहीं, आंख में आंसू हैं। परमात्मा करे, ऐसे धोखे-बाज़ों के यहां कभी संतान न हो।

दूसरे दिन दयावती और उसकी लड़की दोनों की अर्थी उठी। घर के सब लोग साथ थे, केवल पार्वती न थी। उसे रात ही बुख़ार हो गया था। रामनारायण ने लड़कियों को उसके पास छोड़ा और स्वयं अर्थी के साथ चले गए।

दाह-कर्म्म करके लौटे, तो घर में पार्वती की लाश पड़ी थी, और उसके पास उसकी अबोध कन्याएं बैठी फूट फूट कर रो रही थीं। उस ने दयावती से कहा था एक साथ जिएंगी, एक साथ मरेंगी। उसका वचन झूठा न निकला। वह दाह-कर्म के समय पछड़ गई थी, परन्तु परलोक-यात्रा में पीछे न रही। दोनों विपद्-ग्रस्त स्त्रियां एक ही दिन दुनियाँ से रवाना हुईं।

——:o:——

प्रेम-तरु

(१)

डेढ़ सौ साल बीत चुके हैं, परन्तु देवी सुलक्खी का नाम आज भी उसी तरह ज़िन्दा है । गुरदासपुर के ज़िले में कड़याला नाम का एक छोटा सा गांव है, जहां ज़्यादा आबादी हिन्दू जाटों की है । वहां आप किसी से पूछिये, वह आप को देवी सुलक्खी की समाधि का पता बता देगा । यहां प्रतिवर्ष मेला लगता है; स्त्रियां रंग-बिरंग वस्त्र पहन कर आती हैं, और इस पर घी के दीए जलाती हैं । जब बेर पकते हैं, तो सब से पहले बेर देवी सुलक्खी की समाधि पर चढ़ाए जाते हैं; इसके बाद लोग खाते हैं । क्या मजाल कि इस समाधि पर बेर चढ़ाए बिना कोई बेर को मुंह भी लगा जाए । दीवाली की रात को लोग पहले यहां दिए जलाते हैं; इस के बाद अपने घर में जलाते हैं । किसी में इतना साहस नहीं कि देवी सुलक्खी की समाधि पर रोशनी किए बिना अपने घर में रोशनी कर ले । ब्याह के बाद दुलहिनें पहले यहां आकर नमस्कार करती हैं, इस के बाद अपने ससुराल में पाँव धरती हैं । किसी में हिम्मत

नहीं कि गांव की इस रीति को तोड़ सके। देवी की समाधि गांव के मध्य में है। उसके ऊपर श्रद्धालुओं ने संगमरमर की एक सुदृढ़ और सुन्दर छत खड़ी कर दी है। इस छत के ऊपर एक झण्डा लहराता है, जो आसपास के गांवों से भी नज़र आता है। देवी सुलक्खी ने कोई संग्राम नहीं जीता; न कोई राज्य स्थापित किया; न कोई उसमें विशेष आत्म-शक्ति थी, जो लोगों के दिलों को पकड़ लेती; न उसने लोगों के लिए कोई बलिदान किया। वह एक ग़रीब, सीधी-सादी, अनपढ़, परन्तु सतवन्ती ब्राह्मण-महिला थी, जो एक मूर्ख और हठी जाट के क्रोध का शिकार हो गई। उस ने अपने पति से जो प्रण किया था, उस पर वह ध्रुव के समान अटल रही। इसमें सन्देह नहीं, वह साधारण ब्राह्मणों से भी ग़रीब थी, परन्तु पातिव्रत धर्म की दौलत से मालामाल थी। वह मर्यादा की पुजारिन थी। उसने जो कहा था, वह करके दिखा दिया। उस के पति ने एक वृक्ष को अपनी सन्तान कहा था, सुलक्खी ने मरते दम तक पति के इस वचन को निबाहा। यही बात है, जिसने उसे इतने दिनों के बाद आज भी गांव में जीती-जागती शक्ति बना रखा है। हिन्दू देवी-देवताओं का पूजन करते हैं, मुसलमान पीर-फ़क़ीरों को मानते हैं; परन्तु देवी सुलक्खी का शासन दोनों के हृदयों पर है।

(२)

देवी सुलक्खी इसी गाँव के एक निर्धन ब्राह्मण जयचन्द की स्त्री थी। जयचन्द के घर में स्त्री के अतिरिक्त कोई भी न था—न मां, न बाप, न बहनें, न भाई। बस, पति-पत्नी थे: कोई बाल-बच्चा भी न था। कुछ दिन इलाज करते रहे, परन्तु जब सारा परिश्रम निष्फल हुआ, तो भाग्य-विधान पर सन्तुष्ट होकर बैठ रहे। उस युग के ब्राह्मण लोग प्रायः नौकरी इत्यादि न करते थे; न धन-दौलत में उस समय ऐसी मोहनी थी, न लोग धन को दुर्लभ समझ कर उसकी प्राप्ति के लिए अधीर रहते थे। थोड़े ही में गुज़ारा हो जाता था। एक कमाता था दस खा लेते थे। आज वह ज़माना कहाँ? दस कमाने वाले हों, एक बेकार को नहीं खिला सकते। उस समय के ब्राह्मण सारा सारा दिन पूजा-पाठ में लगे रहते थे। खाने-पीने को जाट यजमानों के यहाँ से आ जाता था। दोनों को किसी प्रकार की चिन्ता न थी। हाँ, कभी कभी निःसन्तान होने पर कुढ़ा करते थे। यदि एक भी बच्चा हो जाता, तो दोनों का मन बहल जाता। उनका जीवन मधुर, प्रकाशमय तथा विनोद पूर्ण हो जाता। उनको कोई शुगल मिल जाता। अब ऐसा मालूम होता था, जैसे उनका घर सूना-सूना है। जैसे उनका जीवन लम्बी, अँधेरी, समाप्त न होने वाली रात है, जिसमें कोई तारा नहीं, चाँद नहीं, केवल निराशा के काले बादल घिरे हुए हैं। उन बादलों में

कभी-कभी, थोड़ी देर के लिए, आशा की बिजली भी चमक जाती है; परन्तु उससे उनके दिलों का अन्धकार बढ़ता था, घटता न था। इसी तरह कई साल गुज़र गए।

एक दिन जयचन्द ने अपने आँगन के कोने में नवजात बच्चे के समान बेरी का एक पौदा देखा, जो स्वयं ही उग आया था। पौदा बहुत छोटा था और साधारण पौदों से ज़रा भी भिन्न न था, किन्तु जयचन्द को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो यह पौदा न था, प्रकृति का अद्भुत चमत्कार था। वे उसके छोटे छोटे रग-रेशे और चिकनी-चिकनी ज़रा-ज़रा सी कोपलें देख कर बेसुध से हो गए। शान्ति के पुतले पर अशान्ति छा गई। दौड़े दौड़े सुलक्खी के पास गए, और बोले—"आओ, कुछ दिखाऊँ। भगवान् ने हमारे घर में बूटा लगाया है, बड़ा सुन्दर है।"

सुलक्खी ने जाकर देखा, तो एक नन्हा सा पौदा था। बोली—"क्या है यह? ऐसे प्रसन्न क्यों हो रहे हो?

जयचन्द—"बेरी का पौदा है। अभी छोटा है, चन्द दिनों में बड़ा हो जाएगा। इस में हरे-हरे पत्ते आएंगे। मीठे-मीठे फल लगेंगे। लम्बी लम्बी डालियाँ फैला कर खड़ा होगा।"

सुलक्खी ने पुलकित होकर कहा—"सारे आँगन में छाया होजाएगी।"

जयचन्द—"हर साल बेर लगेंगे। खूब मीठे होंगे।"

सुलक्खी—"मैं इसे सदा जल से सींचा करूंगी। थोड़े ही दिनों में बड़ा होजाएगा। कब तक फलेगा ?"

जयचन्द—(पौदे को प्रेम-भरी दृष्टि से देख कर)—"चार वर्ष बाद। तुमने देखा, कैसा प्यारा लगता है। बड़ा होकर और भी प्यारा लगेगा। कैसा चिकना और सुन्दर है! देख कर मन खिल उठता है!"

सुलक्खी—(सरलता से)—गरमी के दिन हैं, कुम्हला जाएगा। मुझे तो अब भी घबराया हुआ मालूम होता है। ज़रा कोंपलें तो देखो, जैसे प्यास के मारे व्याकुल हो रही हों। कहिए, ताज़ा जल भर लाऊँ? गरमी से बड़ों-बड़ों का बुरा हाल है। यह तो बिलकुल नन्हीं-सी जान है! (चुटकी बजाकर) अभी भर लाऊँगा, दो मिनट में।"

जयचन्द—"इस समय तुम कहां जाओगी, मैं जाता हूं।"

मगर सुलक्खी ने कलसा उठा लिया, और चली गई। थोड़ी देर बाद दोनों पति-पत्नी उस छोटे से पौदे को पानी से सींच रहे थे। ऐसे प्यार से, जैसे उनका जीता जागता बच्चा हो; ऐसी भक्ति से, जैसे उनका देवता हो; ऐसी श्रद्धा से, जैसे कोई अमोल वस्तु हो। पौदा सचमुच धूप से कुम्हलाया हुआ था। ठण्डा पानी पीकर उसने आंखें खोल दीं। सुलक्खी बोली—"देख लो! अब इस में ताज़गी आगई है या नहीं? क्यों?"

जयचन्द—"मुझे तो ऐसा मालूम होता है, जैसे यह मुस्करा रहा है।"

सुलक्खी—"और मुझे ऐसा मालूम होता है, जैसे हम से बातें कर रहा है। कहता है–मैं तुम्हारा बेटा हूँ।"

जयचन्द–"भई! यह बात तो तुमने मेरे मुँहसे छीन ली। मैं भी यही कहने जा रहा था। हाँ, बेटा तो है ही। इसे खूब प्यार करोगी न?"

सुलक्खी—"तुम्हारे कहनेकी क्या आवश्कता है? अपने बेटे को कौन प्यार नहीं करता?"

जयचन्द—"मैं डरता हूँ, कहीं मुझे न भूल जाओ। बड़ी आयु में बालक पाकर स्त्रियां पति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगती हैं, मगर मुझ से तुम्हारी लापरवाही सहन न होगी। यह अभी से कहे देता हूं।"

सुलक्खी—"चलो हटो! तुम्हें तो अभी से डाह होने लगा।"

जयचन्द हँसते-हंसते घर के भीतर चले गए, परन्तु सुलक्खी कई घंटे धूप में खड़ी बेरी की ओर देखती रही और खुश होती रही। आज भगवान ने उसके घर में रौनक भेज दी थी। आज उसको ऐसा अनुभव हुआ, जैसे वह बांझ नहीं रही--पुत्रवती हो गई है। अबोध बालक छाछ को, दूध समझ कर खुश हो रहा था।

(३)

अब जयचन्द और सुलक्खी दोनों को एक काम मिल गया। कभी बेरी को पानी देते कि कुम्हला न जाए; कभी खुरपी लेकर उसके आसपास की ज़मीन खोदते कि उसे अपनी खुराक प्राप्त करने में दिक्कत न हो; कभी उसके इर्द गिर्द बाड़ लगाते कि कोई जन्तु हानि न पहुंचाए; कभी दो चारपाईयां खड़ी करके उस पर चादर फैला देते कि गरमी में सूख न जाए। लोग यह देखते थे, और उनकी इस मूर्खता (?) पर हंसते थे। कोई कोई कह भी देता था कि इनकी अकल मारी गई है, साधारण पौदे को पुत्र समझ बैठे हैं।

मगर प्रेम के इन सरल हृदयभक्तों को इसकी ज़रा भी परवा न थी। उन्हें उस बेरी की कोपलें बढ़ती देख कर वैसी ही प्रसन्नता होती थी जैसी माता पिता को बच्चे के हाथ पांव बढ़ते देख कर होती है। जयचन्द बाहर से आते, तो सब से पहले बेरी की कुशल क्षेम पूछते। सुलक्खी रात को कई कई बार चौंक कर उठती, और बेरी को देखने जाती। शायद उसे भय था कि कोई ऐसी अनमोल वस्तु को उखाड़ कर न ले जाए। ऐसी चाह, ऐसी सावधानी से किसी ग़रीब विधवा ने अपने एकमात्र पुत्र का भी लालन पालन शायद ही किया हो।

धीरे-धीरे यह प्रेम-तरु बढ़ने लगा। अब वह ज़मीन से

बहुत ऊपर उठ आया था। उसका तना भी मोटा हो गया था। डालें भी बड़ी बड़ी हो गई थीं। रात के समय ऐसा सन्देह होता था, जैसे वह बाहें फैला कर किसी से गले मिलने को अधीर हो रहा है। सुलक्खी उसे अपनी बेटी और जयचन्द उसे अपना बेटा कहते थे। उसे देख कर उन की आंखें चमकने लगती थीं। उनका हृदय कमल खिल उठता था। यह वृक्ष साधारण वृक्ष न था; उनके रात दिन के परिश्रम का परिणाम था। इस के लिए उन्होंने अपनी रातों की नींद कुर्बान की थी। इस पर उन्होंने अपने शरीर और आत्मा की संपूर्ण शक्तियां खर्च कर दी थीं।

इसी तरह प्यार-मुहब्बत और लाड-चाव के चार वर्ष गुज़र गए, और बेरी के फलने के दिन निकट आगए। जयचन्द और सुलक्खी दोनों के मन की दशा अकथनीय थी। जब बौर आया, तो दोनों सारा-सारा दिन आंगन में बैठे उसकी रक्षा किया करते थे, कि कहीं कोई पास न फटक जाए। जयचन्द अब पहले की तरह पूजा-पाठ के पाबन्द न रहे थे। सुलक्खी को अब चरखे का ख़याल न था। साधारण वृक्ष के प्रेम ने उन्हें इस तरह बांध लिया था कि ज़रा हिलते भी न थे। हर समय इसी की बातें करते थे। उस वक्त वह इस संसार से बाहर चले जाते थे। सुलक्खी कहती—"तुम्हारे ख़्याल में यह पीले रंग का बौर होगा, मगर मुझे तो ऐसा मालूम

होता है कि मेरी बेटी ने सोने के गहने पहने हैं। किस शान से खड़ी है!

जयचन्द कहते—"यह मेरे बेटे की पहली कमाई है। इसे बेर कौन कहता है? यह तो मोहरें हैं, बल्कि मुझे तो इसके सामने मोहरें भी तुच्छ मालूम होती हैं। उन्हें मनुष्य बनाता है। इसे स्वयं भगवान् ने अपने हाथों से संवारा है। इसके सामने मोहरें और अशरफ़ियां किस गिनती में हैं? थोड़े दिनों में यह बेर बन जाएंगे। उनमें जो सुन्दरता, जो यौवन, जो मिठास होगी, वह सोने के उन सिक्कोंमें कहाँ?

सुलक्खी कहती—"जिस दिन पहले बेर उतरेंगे, उस दिन मिठाई बाँटूंगी।"

जयचन्द कहते—"मैं रतजगा करूँगा। गांव के सारे लोगों को बुलाऊंगा। सारी रात रौनक रहेगी।"

सुलक्खी कहती—"खूब ख़र्च करना पड़ेगा।"

जयचन्द कहते—"लोग बेटों के ब्याहों में अपना धन लुटाते हैं। मेरे लिए यही बेटे का ब्याह है। सब कुछ खर्च हो, जाए, तब भी परवा नहीं; परन्तु एक बार दिल के अरमान निकल जाएं। कोई अभिलाषा शेष न रह जाए।"

यह सुन कर सुलक्खी किसी दूसरी दुनिया में पहुँच जाती थी। उसके हृदयरूपी समुद्र में खुशी की तरंगें उठने लगती थीं। जैसे चान्दनी रात में समुद्र में ज्वार-भाटा आ जाए।

(४)

आख़िर वह दिन भी आगया, जिसकी पति-पत्नी दोनों प्रतीक्षा कर रहे थे। पहले दिन बेरी के दो सौ बेर उतरे। यह बेर इतने मोटे, ऐसे गोल-मोल, ऐसे लाल, इतने सुन्दर और चिकने थे कि देख कर जी खुश हो जाता था। दोपहर का समय था। सुलक्खी ने पुराने ज़माने की हिन्दू स्त्रियों की तरह नए कपड़े पहने। लाल रंग की फुलकारी ओढ़ी। नाक में नथ पहनी, और जाकर जयचन्द के सामने खड़ी हो गई। जैसे उस दिन उसके यहां कोई ब्याह शादी थी। उसको इन वस्त्रों में देख कर जयचन्द मुग्ध-से हो गए। थोड़ी देर तक दोनों के मुंह से कोई बात न निकली। आंखें मूंद कर चुपचाप इस अलौकिक आनन्द से आनन्दित होते रहे। तब जयचन्द ने बेर टोकरी में रखे और सुलक्खी से कहा—"जा! जाकर यजमानों के यहां गिन कर बीस-बीस दे आ।"

सुलक्खी ने साहसपूर्ण नेत्रों से पति को देखा, और प्यार-भरी आवाज़ में कहा—"ईश्वर करे, खूब मीठे हों। लोग बे-अख़्तियार वाह वाह कहें। आकर बधाइयां दें। कहें ऐसे बेर सारे गांव में नहीं हैं।"

जयचन्द ने दस बेर अपने लिए रख लिए थे। उनकी ओर ताकते हुए बोले—"तू ख़्वामख़्वाह मरी जाती है। दूसरों के लिए मीठे न होंगे, न सही, पर हमारे लिए इन से

मीठी वस्तु संसार में और कोई नहीं है। यह मैं चखे बिना कह सकता हूं। जा। देर हुई जाती है। तू बांट कर आ जाए, तो एक साथ खाएं।"

सुलक्खी ने पति की ओर श्रद्धा से देखकर उत्तर दिया— "मैं एक-आध घर में दे लूं, तो तुम खा लेना। मेरी राह देखने की क्या आवश्यकता है ?"

जयचन्द—"वाह! आवश्यकता क्यों नहीं? एक साथ खाएंगे। अकेले में क्या मज़ा आएगा। ज़रा जल्दी लौट आना। नहीं लड़ाई होगी ? "

सुलक्खी ने छोटा सा घूँघट निकाला, और बेरों की टोकरी उठाकर बाँटने चली, जैसे कोई ब्याह-शादी की मिठाई बाँटने जा रही हो। थोड़ी देर में एक यजमान दौड़ता हुआ आया, और बोला—"पण्डित जी! बधाई है। बेर खूब मीठे हैं।"

जयचन्द का दिल धड़कने लगा। मुंह गुलाब हो गया। बोले—"अच्छा, आपने खाए हैं ?"

यजमान—"खाए क्या हैं! एक बेर चखा है। मगर वाह भई, वाह! गुड़ से भी मीठा है। आम से भी मीठा है। कोई और बेर है, या नहीं ?"

जयचन्द की बाछें खिली जाती थीं। उन्होंने दो बेर उठा कर यजमान के हाथ में रख दिए। यजमान खाता जाता था और तारीफ़ करता जाता था। कहता था—"पंडित

जी ! यह बेर क्या हैं, चीनी के खिलौने हैं। मेरी इतनी आयु हो गई, मगर ऐसे बेर मैंने आज तक नहीं खाए। परमात्मा जाने, इन में कैसा स्वाद है, मालूम होता है, जैसे सुगन्ध भरी है।"

जयचन्द—"परमात्माने हमारी मेहनत सफल कर दी।"

यजमान—"सारे इलाके में ऐसे बेर मिल जाएं, तो मूछें मुंड़वा दूं। दूर-नज़दीक से लोग आया करेंगे। मालूम होता है, आपने अभी तक नहीं चखे।"

जयचन्द—"यजमानों को भेंट कर लूं, फिर खाऊँगा।"

यजमान—"हैरान रह जाओगे। ऐसे बेर काबुल, कन्धार में भी न होंगे। हमारे घर में दस-बीस बेरों से क्या बनता है? देखते-देखते खतम हो गए। और बेर कब तक उतरेंगे? हम बीस और लेंगे।"

जयचन्द—"आपका अपना वृत्त है। दो-चार दिन तक और उतरेंगे, तो भिजवा दूंगा। मुझे दूसरों को खिला कर जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह खाकर नहीं होती। लीजिए दो और ले जाइए। छै बाकी हैं। हम दोनों तीन-तीन खा-लेंगे। हमें यही बहुत हैं।

थोड़ी देर बाद एक और यजमान आया। उसने भी इतनी तारीफ़ की कि जयचन्द की आंखें चमकने लगीं। बोले—"यह प्रेम का वृत्त है, इसमें प्रेम के बेर लगे हैं। इस से मीठे संसार-भर में न होंगे। भई! इतनी मेहनत कौन

करता है ? आप दोनों ने एक मिसाल कायम कर दी है। दो बेर खाए हैं, दो और मिल जाएं, तो मज़ा आ जाए। फालतू हैं या नहीं ?"

जयचन्द ने मुस्करा कर कहा—"छै बचे हैं। दो आप ले जाइए। दो-दो हम खा लेंगे।"

यजमान—"यह तो अन्याय होगा। रहने दीजिए। फिर सही। और बेर कब तक उतरेंगे ?"

जयचन्द—"आप ले जाइए। हमें स्वाद देखना है। पेट थोड़ा भरना है। (बेर हाथ पर रखते हुए) रात रत-जगा है। आइयेगा ना ? कोई बेटे का ब्याह करता है, कोई पोती पोते का मुण्डन करता है। मेरी आयु में यही एक दिन आया है। यही खुशी का पहला दिन है, यही अन्तिम दिन होगा। और क्या ?"

यजमान—"ज़रूर आऊंगा, पण्डित जी ! मगर बेर खूब मीठे हैं, अभी तक मुंह से सुगन्ध आ रही है।"

यह कह कर यजमान चला गया। इतने में दो और आ गए। पण्डित जी के पास चार बेर बाकी थे। वह उनकी भेंट हो गए। उन के पास अब एक भी बेर न था। पण्डित जी दिल में डरे कि सुलक्खी से क्या कहूंगा ? कहीं खफा न हो जाए। तैश में न आ जाए। परन्तु सुलक्खी इस प्रकार की स्त्री न थी। सारा वृत्तान्त सुन कर बोली—"आपने

बहुत अच्छा किया। हमारा क्या है? फिर खा लेंगे। अपना वृक्ष है, जब चाहा, दो बेर तोड़ लिए। कहीं मांगने थोड़ा जाना है।"

जयचन्द—"गांव में धूम मच गई है। कहते हैं—ऐसे बेर दूर-दूर तक नहीं हैं।"

सुलक्खी की आंखों में आंसू आ गए। नथ को सम्भालते हुए बोली—"सभी कहते हैं—और दो। बेर क्या हैं, खोए के पेड़े हैं।"

जयचन्द—"कहते हैं, इनमें सुगन्ध भी है।"

सुलक्खी—"जो खाता है, चटखारे लेता है। कहते हैं—ऐसा मज़ा न आम में है, न रंगतरे में।"

जयचन्द—"यह सब तुम्हारे परिश्रम का फल है। रोज़ पानी दिया करती थीं। तुम्हारे हाथों का पानी अमृत हो गया।"

सुलक्खी—"और जो तुम कपड़ों से छाया करते फिरते थे, उसका कोई असर ही नहीं? यह सब उसी का फल है।"

जयचन्द—"तुम देर में लौटी। नहीं तो एक-एक खा लेते। अब दो-चार दिन के बाद पकेंगे।"

(५)

परन्तु जयचन्द के भाग्य में बेर पकाना लिखा था, बेर खाना न लिखा था। रतजगे के बाद उनको सहसा बुखार

हो गया। गांव में जैसा इलाज हो सकता था, हुआ। हकीम ने समझा, थकावट का बुखार है। साधारण औषधियों से उतर जाएगा; परन्तु वह थकावट का बुखार न था, मृत्यु का बुखार था। जिसकी दवा दुनिया के बड़े से बड़े हकीम के पास भी नहीं। चौथे दिन प्रातःकाल जयचन्द सुलक्खी से घंटा भर धीरे-धीरे बातें करते रहे। बातें क्या करते रहे, रोते और रुलाते रहे। दुनियादारी की बातें समझाते रहे। ये बातें उनके जीवन का सार थीं। सुलक्खी ये बातें सुनती थी और रोती जाती थी। इस समय उसका दिल वस में न था। वह चाहती थी, जिस तरह भी हो, पति को बचा ले। यदि उसके बस में होता, तो वह अपनी जान देकर भी उन्हें बचा लेती। इसमें उसे ज़रा भी संकोच न था, परन्तु जो भाग्य में बदा हो, उसे कौन रोक सकता है। थोड़ी देर बाद इधर संसार का सूर्य उदय हो रहा था, उधर जयचन्द के जीवन और सुलक्खी की दुनिया का सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया।

अब सुलक्खी संसार में बिलकुल अकेली थी। अब उस का सिवाय एक छोटे भाई के और कोई भी न था। थोड़े दिन रोती रही, इस के बाद चुप हो गई। इस लिए नहीं कि मृत्यु का शोक भूल गई, बल्कि इस लिए कि उसकी आंखों में आंसू न रहे थे। रो रो कर आंसू भी समाप्त हो जाते हैं। मगर उसके दिल के घाव हमेशा हरे थे। उसे किसी तरह

कल न पड़ती थी। पति की मृत्यु के बाद किसी ने उसे हँसते हुए न देखा। न अच्छा खाती थी, न अच्छा पहनती थी। उस का ज़्यादा समय दुःखी लोगों की सेवा में गुज़रता था। गाँव में कोई बीमार होता सुलक्खो पहुँच जाती। फिर उसे सोना हराम था। सरहाने से न उठती थी। हर समय सेवा में लगी रहती थी, जैसे मां बच्चे की तीमारदारी कर रही हो। जब वह स्वस्थ हो जाता, तब घर लौटती। उसकी इन सेवाओं ने गाँव वालों के मन मोह लिये। कहते थे—यह स्त्री नहीं, देवी है। अब उन्हें मालूम होता था कि यदि यह न हो, तो गांव वालों पर विपत्ति टूट पड़े। उसे दुनियां की किसी वस्तु से प्रेम न था—किसी वस्तु की परवा न थी, जैसे उस ने संन्यास ले लिया हो, जैसे उस ने दुनियां की हर एक वस्तु का परित्याग कर दिया हो।

परन्तु एक वस्तु से उसे अब भी प्यार था। यह उस की बेरी थी। वह अब भी उस का उसी तरह ख़याल रखती थी। उस को उसी तरह पानी देती थी। उसी तरह देख-भाल करती थी। गरमी में उस के पत्तों को कुम्हलाया हुआ देख कर अब भी उसी तरह अधीर हो जाती थी। रात को चौंक चौंक कर अब भी उसे देखती थी। बाहर जाती तो भाई लछमन से कह जाती, बेरी का ख़याल रखना। जब बेर लगते, तो दो-तीन महीने उस के पास से न उठती; कहीं ऐसा न हो, जानवर आ कर कुतर जाए। जब बेर उतरते,

तो सारे गांव में बांटती, जिस तरह पहले साल बांटे थे। मगर आप बेर को मुंह न लगाती थी। न पहले साल खाए थे, न अब खाती थी। उस का भाई लछमन खूब पेट भर कर खाता था। वह कहता था, यह बेर इस दुनिया के नहीं, स्वर्गपुरी के हैं। कभी कहता, ऐसे बेर स्वर्ग में भी न होंगे। बहन से कहता, तू भी चख कर देख। वह कहती—"वह खाते, तो मैं भी खाती। उन्हों ने नहीं खाए, मैं भी नहीं खाऊंगी।"

लछमन कहता—"तू अभागी है।"

सुलक्खी उत्तर देती—"अभागी न होती, तो वह क्यों मरते? अब तो सारी आयु इसी प्रकार बीत जाएगी।"

गुरदासपुर के कई दूकानदारों ने बेरी मोल लेनी चाही, पर सुलक्खी ने साफ़ इनकार कर दिया। कहा—"मरती मर जाऊँगी, मगर बेरी न दूंगी।"

एक दूकानदार ने कहा—"दो सौ रुपया ले ले, बेरी दे दे।"

सुलक्खी ने उत्तर दिया—"तू दो हज़ार दे, जब भी न बेचूँ। दो लाख दे जब भी न बेचूँ।"

दूकानदार—"तू अजब स्त्री है। न खाती है न बेचती है।"

सुलक्खी—"बाँटती तो हूँ। मेरे लिए यही खुशी की बात है। मैं नहीं खाती, तो क्या हुआ, सारा गाँव तो खाता है।"

दूकानदार—"परन्तु इस से तुझे क्या मिल जाता है?

जिस को वेर खाने की इच्छा होगी, पैसे दे कर खरीद लेगा।"

सुलक्खी ने दूकानदार की ओर करुणापूर्ण दृष्टि से देखा, और कहा—"मैं ब्राह्मणी हूँ, कुंजड़िन नहीं, जो अपनी वेरी के वेर वेचूँ। न भाई यह न होगा। तू अपने रुपये ले जा, मुझे यह सौदा स्वीकार नहीं।"

एक दूसरे दूकानदार ने कहा—"तू वेरी वेच दे, तो मैं ५००) दूँ। वोल, है इरादा?"

सुलक्खी—"यह वेरी नहीं है, हमारी संतान है। अपनी संतान कौन वेचता है?"

दूकानदार—"यह तेरा भ्रम है। आदमी की सन्तान आदमी होता है, वृक्ष नहीं होता।"

सुलक्खी—"यह अपना-अपना विचार है। कई आदमी ऐसे भी हैं, जो ठाकुर को पत्थर कहते हैं।"

दूकानदार—"मुझे तो वृक्ष ही मालूम होता है।"

सुलक्खी—"तेरी आंखों में वह जोत कहां, जो इसकी असली सूरत देख सके? वृक्षों के वेर ऐसे मीठे कहां होते हैं?"

लछमन अव तक चुप था, यह सुन कर वोला—"ऐसे मीठे वेर तुमने कहीं और भी देखे हैं? एक-एक वेर एक आने को भी सस्ता है।"

दूकानदार—"यह ठीक है! किन्तु आखिर है तो वेरी।"

सुलक्खी—"नहीं भैय्या ! यह बेरी नहीं है, मेरे स्वामी की यादगार है। जो अपने स्वामी की यादगार को बेच दे, उसे मर कर नरक भी न मिलेगा।"

दूकानदार—"अब इसका क्या उत्तर दूँ? ५००) थोड़े नहीं होते। तेरी सारी आयु सुख से कट जाएगी।"

सुलक्खी—"भैय्या! जो सुख मुझे इसको पानी देकर होता है, वह सुख रुपये लेकर कभी न होगा।"

दूकानदार—"तो पानी देने से तुझे कौन रोकता है? जितना चाहे, पानी दे। अगर तेरा हाथ पकड़ जाऊँ, तो जो चोर की सज़ा, वह मेरी सज़ा।"

सुलक्खी—"परन्तु जो बात अब है, वह फिर कहां? अब अपना है, फिर पराया हो जायगा। अब बेर सारे गांव में बांटती हूँ, फिर तू हाथ भी न लगाने देगा। गांव के जिन लोगों के पास पैसे नहीं, वह क्या करेंगे? बेरों को देखेंगे, और ठंडी सांस भर कर रह जायंगे। मुझे कोसेंगे, दिल में गालियां देंगे। अब सब को मुफ्त मिलते हैं, फिर किसी को भी न मिलेंगे। गांव के छोटे छोटे बच्चे कहेंगे, कैसी लोभिन है, चार पैसों की खातिर बेरी बेच दी। न भाई! यह कलंक का टीका न खरीदूंगी। मैं गरीब ही भली।"

यह कह कर सुलक्खी बेरी के पास चली गई, और उस की डालियों पर हाथ फेरने लगी।

और यह उस स्त्री का हाल था, जिसने किसी पाठशाला में विद्या नहीं पढ़ी थी; जिसने कर्म-धर्म पर कोई व्याख्यान न सुना था; जिसके पास खाने को कुछ न था; जो अपने यजमानों के दान पर निर्वाह करती थी; परन्तु उसका हृदय कितना विशाल, कितना पवित्र था। उसने पड़ोसियों के कर्तव्य को कितना ठीक समझा था। ऐसी पवित्र हृदया सुशीला तथा सभ्या देवियां संसार में कम जन्म लेती हैं।

(६)

कई वर्ष बीत गए।

ज्येष्ठ का महीना था। सुलक्खी बेरी के सारे बेर बांट चुकी थी। अब बेरी पर एक बेर भी बाक़ी न था। सुलक्खी बेरी के पास खड़ी उसकी ख़ाली डालियों को देखती थी, और खुश होती थी कि इस साल का कर्तव्य भी पूरा हो गया। इतने में एक यजमान हाड़ीराम ने आ कर सुलक्खी को नमस्कार किया, और बोला—"पण्डितानी जी! हमारे बेर कहां हैं?"

सुलक्खी का मुंह कुम्हला गया। हैरान थी, क्या कहे, क्या न कहे। हाड़ीराम गांव में सब से उजड्ड जाट था। ज़रा ज़रा सी बात पर जोश में आजाता था, और मरने-मारने को तैयार हो जाता था। उसकी लाल आंखें देख कर सारा गांव सहम जाता था। वह अपने परिवार सहित दो महीने

से कहीं बाहर गया हुआ था। सुलक्खी एक दो बार उसके मकान पर गई, और किवाड़ बन्द पाकर लौट आई। इसके बाद वह उसे भूल सी गई, और बेर समाप्त हो गए। और अब—

हाड़ीराम उसके सामने खड़ा था। सुलक्खी ने उसकी ओर सहमी हुई निगाहों से देखा, और कहा—"यजमान ! बेर तो खतम हो गए।"

हाड़ीराम ने ज़रा गर्म हो कर कहा—"वाह ! खतम कैसे हो गए ? हमें तो मिले ही नहीं !"

सुलक्खी—"तुम जाने कहां चले गए थे ? दो बार तुम्हारे मकान पर लेकर गई, दोनों बार दरवाज़ा बन्द था। लौट आई। इसके बाद मुझे ख़याल नहीं रहा।"

हाड़ीराम—(त्योरियां चढ़ा कर)—"ख़याल क्यों नहीं रहा। इतनी बच्चा भी तो नहीं हो।"

सुलक्खी—(शान्ति से)—"अब यजमान ! तुम से बहस कौन करे, भूल हो गई। अगले साल दुगने ले लेना।"

हाड़ीराम—"खाना तो कभी नहीं भूलती हो, न फ़सल पर गल्ला मांगना भूलती हो, हमारे बेरों का समय आया, तो भूल गई !"

सुलक्खी—"तुम बाहर चले गए थे। क्या करती ?"

हाड़ीराम—"वृक्ष में लगे रहने देती । मैं आता, उतार लेता ।"

सुलक्खी—"और जो पक कर गिर जाते, तो फिर ? अब किसी के मुंह में तो पड़ गए। उस अवस्था में किसी के भी काम न आते।"

हाड़ीराम के नेत्रों से अग्नि की ज्वाला निकलने लगी । गरज कर बोला—"मेरे बेर जब मेरे काम न आएं, तो मुझे क्या, चाहे रहें, चाहे मिट्टी में मिल जाएं। मेरे लिए एक सी बात है। तू दूसरों को देने वाली कौन थी ?"

अब सुलक्खी को भी क्रोध आया । ज़रा तेज़ हो कर बोली। "बेरी मेरी है, तुम्हारी नहीं । जिस को चाहूँ, एक बेर भी न दूँ: जिस को चाहूँ, सब-के-सब दे दूँ। बेरी तुम्हारे हाथों बिकी हुई नहीं। तुम बोलने वाले हो कौन ?"

हाड़ीराम—"अच्छा अब हम कौन हो गए ?"

सुलक्खी—(उसी तरह गुस्से से)—"मेहनत मैं करती हूँ। रात-दिन मैं जागती हूं, फिर सारे-के-सारे बेर बांट देती हूँ। आप एक बेर भी नहीं खाती। इस पर भी इतना क्रोध ! आखिर आदमी को कुछ सोचना भी तो चाहिए । जाओ, नहीं दिए न सही। जो कुछ करना हो, कर लो।"

हाड़ीराम दांत पीसता हुआ चला गया। इधर सुलक्खी बेरी के पास जा कर उस से लिपट गई, और बोली-"बेटी !

अगर तुम्हारा बाप जीता होता, तो इस की क्या हिम्मत थी, जो इस तरह मेरी बेइज्जती कर जाता।"

इस से तीसरे दिन सुलक्खी एक बीमार बच्चे की सेवा-सुश्रूषा कर रही थी कि एक लड़का दौड़ता हुआ आया, और हांपता हुआ बोला—"तुम्हारी बेरी को हाड़ी ने काट दिया। कई लोगों ने मना भी किया, मगर वह कहता था, मुझे सुलक्खी ने गाली दी है। सारा आंगन भर गया है।

(७)

सुलक्खी को ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने गोली मार दी है। वहां से चली, तो उसे रास्ता न दिखाई देता था? उस के पांव तले से ज़मीन निकलती जा रही थी। उस समय उस के शरीर में ज़रा भी शक्ति न थी। पांव इस तरह लड़खड़ा रहे थे, जैसे अभी गिर पड़ेगी। मार्ग के दोनों ओर लोग खड़े उस को देखते थे, और हाड़ी को गालियां देते थे। उस समय उन्हें सुलक्खी का विचार था, हाड़ी का भय न था। वे सुलक्खी के साथ सहानुभूति दिखाना चाहते थे, और उन्हें सिवा हाड़ी को गालियां देने के और कोई ढंग न दिखाई देता था।

उधर सुलक्खी का आंगन स्त्री पुरुषों से भरा था। और बीच में बेरी पड़ी थी। लोग कहते थे—"कितना ज़ालिम है, ज़रा सी बात पर बेरी काट दी। काटने पर ही सबर किया

होता, तो भी खैर थी। अगले वर्ष फिर उग आती, परन्तु इसने तो जड़ें भी उखाड़ दीं। आदमी काहेको है चांडाल है।

सहसा सुलक्खी छोटा सा घूँघट निकाले आई, और आंगन में खड़ी हो गई। उसने बेरी की डालों को ज़मीन पर पड़ा देखा, तो उसके दिल पर छुरियां चल गईं। उसको ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे यह वृक्ष की डालियां नहीं, उसकी सन्तान के हाथ पांव हैं। उसने आगे बढ़कर एक एक डाली को गले लगाया और रो रोकर विलाप किया। इस विलाप को सुन कर लोग रोने लगे। सुलक्खी कहती थी—"अरी! तूने मुझे बुला क्यों न लिया? बच्ची! पता नहीं! जब तुझ पर ज़ालिम का कुल्हाड़ा चला होगा, तेरा दिल क्या कहता होगा। तड़पता होगा। सोचता होगा, मां काहे को है, डायन है। यह कसाई मेरे हाथ पांव काट रहा है, वह बाहर घूम रही है। बच्ची! मुझे क्या मालूम था, तेरे सिर पर मौत खेल रही है। अभी भली चंगी छोड़ कर गई थी; अभी अभी तू बाहें फैला कर खड़ी थी। तुझे देख कर जी प्रसन्न होता था। इतनी जल्द तैयारी कर ली। अब लोग तेरे बेरों को तरसेंगे। ऐसे मीठे बेर और कहां हैं?

"तेरे बाप ने मरते समय कहा था, जब तक जीती है, इस की रक्षा करना, और इस के बेर लोगों में बांटना। आज ये दोनों बातें असम्भव हो गईं। अब मेरा जीना

वृथा है। चल दोनों एक साथ चलें। वहाँ तीनों मिल कर रहेंगे।"

यह कह कर उस ने बेरी की डालियों की चिता-सी चुनी। नीचे-ऊपर सूखी लकड़ियाँ डाल कर उस पर घी डाला, और आग लगा दी। आग की ज्वालाएं हवा में उठने लगीं। लोग पीछे हट गए, मगर सुलक्खी जलती हुई बेरी के पास चुपचाप खड़ी उस की ओर देख रही थी।

सहसा वह चिता में कूद पड़ी। लोगों में हलचल मच गई। वे "हं-हं" कहते हुए आगे बढ़े; परन्तु आग की ज्वालाओं ने उन का रास्ता रोक लिया। सुलक्खी आग में बैठी जल रही थी, किन्तु उस के मुख पर ज़रा परेशानी—ज़रा घबराहट न थी; बल्कि आत्मिक प्रकाश था। जैसे उसके लिए आग आग न थी, ठंडा जल था। इतने में आग में से आवाज़ आई—"मैं मरते समय वसीअत करती हूं कि मेरे कुल के लोग भविष्य में दान न लें।"

पुरुषों की आंखों से आंसू जारी थे। स्त्रियां फूट फूट कर रो रहीं थीं, परन्तु सुलक्खी मृत्यु के गरजते हुए शोलों में चुपचाप बैठी थी। देखते देखते मा-बेटी दोनों जल कर भस्म हो गए। कल दोनों जीते थे, आज कोई भी न था।

थोड़ी देर के बाद सुलक्खी का भाई लछमन और

गाँव के जाट लाँठियाँ लिए हाड़ीराम को ढूंढ़ते फिरते थे। वे कहते थे—" आज उसको जीना न छोड़ेंगे। पहले मारेंगे, फिर बांधकर आग में जला देंगे।"

परन्तु हाड़ीराम जंगलों और वनों में मुंह छिपाता फिरता था। इस के बाद उस को किसी ने नहीं देखा। कब मरा? कहां मरा? कैसे मरा?—यह किसी को भी मालूम नहीं।

——:o:——

राजपूत की हार

(पात्र)

महामाया—जसवन्तसिंह की रानी।

जसवन्तसिंह—जोधपुर के राणा साहब।

कुलीना—जसवन्तसिंह की माता।

अचलसिंह—नगररक्षक।

पहला दृश्य

स्थान—जोधपुर के क़िले का एक कमरा

समय—दिन के दस बजे

(महामाया और कुलीना बातें कर रही हैं)

महामाया—

नहीं, मा! नहीं, मेरा दिल अभी तक अशान्त है। मैं कुछ नहीं कर सकती।

कुलीना—

आठ दिन बीत गए हैं, परन्तु तेरा दिल अभी तक अशान्त है। यह तेरा पागलपन है।

महामाया—

ठीक है, मैं ही पागल हूँ। (ठंडी सांस ले कर) वह तुम्हारा बेटा है। तुम उस की मा हो। तुम उस से क्या कह

सकती हो। और मैं पराए घर की बेटी हूँ। मैं ही पागल हूँ।

कुलीना—

(प्यार से)—मेरी बेटी ! जो कुछ भी हो, वह तेरा पति है।

महामाया—

मगर वह कायर है। उस ने दुश्मन को पीठ दिखाई है। वह प्राण बचाने के लिए रण-क्षेत्र से भागा है। मा ! ज़रा सोचो, लोग अपने-अपने घर में हमारे बारे में क्या कहते होंगे ! मेरी राजसखियां, जो मेरा भाग्य सराहती थीं, आज मेरे दुर्भाग्य पर शोक कर रही होंगी।

कुलीना—

महामाया ! मेरी बच्ची !

महामाया—

(भर्राई हुई अवाज़ में)—अगर वह राजपूत था, अगर उस ने वीर माता का दूध पिया था, अगर वह राजपूत सिंहनी की गोद में पलकर जवान हुआ था, तो उसे चाहिये था, रण-भूमि में डट जाता, मृत्यु के भय को पाँव तले मसल डालता, और संसार को दिखा देता कि राजपूत का बच्चा मृत्यु और जीवन दोनों को समान समझता है। मा ! मैं समझती थी, मेरा पति सूरमा है। मेरा ख़्याल था, वह आदर के जीवन और आदर की मृत्यु दोनों की व्यव-

स्था जानता है, मगर (दीर्घ निःश्वास लेकर) हाय शोक ! यह मेरी भूल थी—वह हारकर भी, अपनी और दूसरों की दृष्टि में अपमानित होकर भी, ज़िन्दा रहना चाहता है !

कुलीना—

मेरी बच्ची ! जोश में न आ। इससे कुछ प्राप्ति न होगी। आज्ञा दे, कि क़िले के द्वार खोल दिए जाएं। आठ दिन द्वार पर पड़े रहना साधारण दण्ड नहीं है।

महामाया—

साधारण दण्ड नहीं है ! मा, राजपूत के बेटे के लिए हारकर भाग आना ऐसा पाप है, जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। कदाचित मेरी आंखें यह दुर्दिन देखने से पूर्व सदा के लिए बन्द हो जातीं, तो मैं इसे अपना सौभाग्य समझती।

कुलीना—

धीरज धर, मेरी बच्ची ! धीरज धर। तेरी जीभ से ऐसे शब्द सुनकर मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हुआ जाता है।

महामाया—

और अपने बेटे की वीर-घटना सुनकर तो तुम्हारी छाती हर्ष से फूल उठी होगी, क्यों ?

कुलीना—

(आह भरकर)—यह तू कहती है मेरी बच्ची ! तू.

जो मुझे भली भांति जानती है । आज तू मुझे यह ताने दे रही है ।

महामाया—

(कुलीना के कन्धे पर सिर रखकर)—मा ! क्या तुझे मेरे दुर्भाग्य पर दया नहीं आती ? राजपूत मा की कोख में जन्म लिया, राजपूतों के वीर-परिवार में व्याही गई, और फिर भी मुझे भीरु, कायर, जीवन का लोभी पति मिला ! जहां शूरवीर हर्ष से पागल हो उठता है, जहां सच्चे राजपूतों को आगे-पीछे का ध्यान नहीं रहता, उसने वहां भी अपने प्राणों को प्यारा समझा और भागकर घर में आश्रय लेने आया है । मा ! क्या सचमुच वह तेरा बेटा है ? नहीं, मालूम होता है, वह तेरा बेटा नहीं है। तूने किसी का पुत्र लेकर पाल लिया है। तू बहादुर है । तू सच्ची राजपूतनी है । तेरे दूध में यह निर्लज्जता नहीं हो सकती । वह तेरा बेटा नहीं है । वह तेरा बेटा नहीं हो सकता।

कुलीना—

मेरी बच्ची ! चांद और सूरज भी ग्रहण के समय काले हो जाते हैं ।

महामाया—

(चौंककर)—मा ! मुझे एक और ख्याल आया है । (सोचती है)।

कुलीना—

(अनमनीसी)—क्या ?

महामाया—

(रुक-रुककर)—शायद यह राणा न हों, कोई छलिया उनके रूप में हमें धोखा देने आया हो। वह ऐसे कायर न थे। उनकी रगों में न हारने वाली शक्ति, उनके लहू में न बुझने वाली अग्नि, उनकी भुजाओं में न झुकने वाली ताक़त थी। मैंने उनको निकट होकर देखा है, मैंने उनका दिल पढ़ा है—वे सूरमा थे। उनको आन प्यारी थी, उनको जान प्यारी न थी।

कुलीना—

(आँसू पोंछकर)—मेरा भी यही ख़याल था, मेरी बच्ची !

महामाया—

एक दिन कहते थे, राजपूत की कसौटी मौत है। मैंने हंसकर पूछा, अगर आप किसी दिन युद्ध-क्षेत्र से हारकर भाग आएं, तो मुझे क्या करना उचित है ? मा ! जानती हो, उन्होंने मेरे इस अपमानसूचक प्रश्न का क्या उत्तर दिया ? अगर तुम समीप होतीं तो अपने पुत्र को गले से लगा लेतीं। उन्होंने कहा, महामाया ! अगर कभी मेरे जीवन में ऐसा अशुभ समय आ जाय, तो अपनी कटार मेरी छाती

में झोंक देना, यह मुझ पर सबसे बड़ा उपकार होगा।

कुलीना—

उस समय वह सच्चे राजपूत के समान बोल रहा था।

महामाया—

एक दिन कहते थे, युद्ध-क्षेत्र में हार जाना लज्जा की बात नहीं, लज्जा की बात यह है कि वीर पुरुष हारकर भी जीता रहे। जो वीरात्मा है, वह हार सकता है, हारकर जीता नहीं रह सकता। अपनी मा-बहन, स्त्री के सामने सिर नहीं उठा सकता। उसके लिए पराजय और मृत्यु एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

कुलीना

मेरा बेटा सचमुच बड़ा बहादुर था। न जाने आज उसे क्या हो गया?

महामाया—

(उन्मत्त भाव से)—कुछ नहीं हुआ मा! वे आज भी उसी तरह बहादुर हैं। वे लड़ते-लड़ते वीर-गति को प्राप्त हो चुके हैं, और यह नराधम, नरक का कीड़ा, जो हमारे द्वारपर पड़ा है, उनके कपड़े चुराकर और डाकुओं को लेकर हमें धोखा देने आया है।

कुलीना—

(आकाश की ओर देखकर)-काश तुम्हारा ख़याल ठीक होता!

महामाया—

(आश्चर्य से)—ठीक होता ! तो क्या तुम्हें भी सन्देह है ? क्या तुम भी उनको इतना पतित समझती हो ? नहीं मा, नहीं । वे युद्ध में मारे जा चुके हैं, मैं अब विधवा हो चुकी हूं । नौकरों से कहिये, चिता चुन दें, मैं उनका नाम लेते-लेते सती हो जाऊंगी ।

कुलीना—

(महामाया को गले से लिपटाकर रोते हुए)-मेरी बच्ची ! तुझे क्या हो गया है ?

महामाया—

(सुनी अनसुनी करके)—वह स्वर्ग में मेरी बाट जोह रहे होंगे । झुक-झुक कर नीचे की तरफ देखते होंगे । मेरे बिना घबरा रहे होंगे । आज्ञा दो मा ! (हाथ बाँधकर) वे क्षात्र-धर्म का पालन कर चुके, अब मेरे नारी-धर्म का पालन करने की बारी है । (ऊँची आवाज़ से) मालती ! हीरा !! शक्ति !!!

(तीनों सहेलियोंका सिर झुकाए हुए प्रवेश ।)

महामाया—

(बिना उनकी तरफ देखे धीरे धीरे)—चन्दन की लकड़ियाँ मँगवा कर चिता चुन दो······मेरे सारे बढ़िया कपड़े, अनमोल आभूषण ले आओ······मैं उनसे मिलने

जा रही हूँ। मैं आज आग के उड़न-खटोले पर सवार होऊँगी।

(सहेलियाँ पहले घबरा जाती हैं, फिर एक दूसरी की तरफ देखती हैं। इसके बाद कुलीना की तरफ देखती हैं।)

कुलीना—

पागल हो गई है !

महामाया—

(चौंक कर)—कौन पागल है ? (फिर स्वयं ही उत्तर देती है) वही, जो मेरे पति के भेस में मुझे ठगने के लिए आया है। (कुछ देर चुप रहने के बाद) सचमुच वह पागल है, जो समझता है कि मैं भेस और शक्ल-सूरत से धोखा खा जाऊँगी। यह उसकी भूल है। मैंने पहचान लिया, यह कोई और आदमी है, यह महाराणा जी नहीं हैं। (झूमते हुए) यह महाराणा जी नहीं हैं, किसी से पूछ लो।

कुलीना—

मेरी बेटी ! मेरी प्यारी बच्ची !!

महामाया—

(कटार निकाल कर)—अच्छा, पहले चलकर उसे उसी की कसौटी पर परख लूं। मालती ! वीरा !! शक्ति !!! जाओ, जाकर दुर्गरक्षक से कहो, दरवाज़ा खोल दे, मैं यह कटार उसकी छाती में घोंप दूँगी। अगर राणा जी होंगे,

मेरे कर्तव्य-पालन की प्रशंसा करेंगे। अगर कोई लम्पट होगा, कटार देख कर चिल्लाता हुआ भाग जायगा। मालती ! वीरा !! शक्ति !!!

शक्ति—

महारानी जी ! क्या आज्ञा है ?

महामाया—

चिता तैयार हुई या नहीं ? राज-पुरोहित आया या नहीं ? मेरे आभूषण कहाँ हैं ? तुम विलम्ब कर रही हो, राणा जी खफ़ा हो रहे होंगे।

शक्ति—

(कुलीना से)—राजमाता ! आपने देखा, इनको क्या हो गया ?

कुलीना—

इनको पकड़ कर शयनागार में ले चलो, और वैद्यराज से कहो, अभी आकर औषधि दें ! मैं अभी आती हूँ।

(सहेलियों का महामाया को सहारा देकर ले जाना और अचलसिंह का प्रवेश)

कुलीना—

अचलसिंह ! कोई नवीन समाचार है ?

अचलसिंह—

रात चार घायल सिपाही और मर गए। महाराणा के जखम अभी तक नहीं भरे।

कुलीना—

महाराणा क्या महामाया से बहुत नाराज़ है ?

अचलसिंह—

नाराज़ नहीं उदास हैं। उनको अपने ऊपर क्रोध है। कल कई घंटे रोते रहे हैं, उनको सारी रात नींद नहीं आई। अगर आज्ञा हो, तो क़िले का दरवाज़ा खोल दिया जाय। आख़िर कब तक बाहर पड़े रहेंगे ?

कुलीना

मैं क्या कर सकती हूँ, महामाया नहीं मानती।

अचलसिंह—

आप जो चाहें, कर सकती हैं। क़िले में कौन है, जो आपकी आज्ञा न माने।

कुलीना

महारानी महामाया है, मैं कुछ नहीं कर सकती।

अचलसिंह—

आप राजमाता हैं, आप सब कुछ कर सकती हैं।

कुलीना—

राजमाता बीते हुए कलकी रानी है। आज की रानी महामाया है, उसके सम्मुख मैं भी सिर नहीं उठा सकती।

अचलसिंह—

मगर उन्होंने कभी आपकी किसी बात का विरोध नहीं किया।"

कुलीना—

यह उसकी कृपा है।

अचलसिंह—

सामन्तों की सम्मति है, आप उनको विवश करके दरवाज़ा खुलवा दें।

कुलीना—

यह मेरी भूल होगी।

अचलसिंह—

तो फिर क्या आज्ञा है?

कुलीना—

(सोच कर)—महामाया को होश आ जाए, तो मैं उससे पूछूंगी। इस समय तुम जाओ, दो-तीन घंटे बाद आना।

दूसरा दृश्य

स्थान—उसी क़िलेका दूसरा कमरा

समय— दोपहर

(महामाया एक पलंग पर लेटी है; पास सहेलियाँ वीरा, शक्ति, मालती बैठी हैं। सिर की तरफ दवा की शीशियाँ रखी हैं। महामाया चुपचाप छतकी तरफ देख रही है। उसके कपोलों पर आँसू बह रहे हैं। सहेलियाँ रूमाल से आँसू पोंछ रही हैं।)

शक्ति—

महारानी ! रोने से क्या हो जाएगा ? धीरज धरिये। यह साधारण बात है।"

महामाया—

(ठंडी आह भरकर)—शक्ति ! यह साधारण बात नहीं है। मुझसे मेरा गौरव छिन गया। मेरे हृदय में जो उनके लिए श्रद्धा थी, वह जाती रही। मैं अपनी दृष्टि में आप गिर गई, यह साधारण बात नहीं है।

शक्ति—

मगर महारानी ! युद्ध में हार-जीत दोनों की सम्भावना है। किसी-न किसी को हारना पड़ेगा। दोनों नहीं जीत सकते।

महामाया—

हारकी सम्भावना है, मगर हार कर मा की गोद में भाग आने की सम्भावना नहीं है, और वह भी एक राजपूत के लिए। ओह शक्ति ! तुम नहीं जानती, मेरा रुधिर जल रहा है। जी चाहता है, क़िले की सब स्त्रियाँ चलें और दीवार पर से तीर बरसा-बरसा कर उन भगोड़ों का काम तमाम कर दें। उनको पता लग जाए कि जब राजपूत युद्ध में हार कर घर को लौटते हैं, तो उनकी स्त्रियाँ, उनकी बहनें, उनकी माताएँ उनका स्वागत किस तरह करती हैं।

जी चाहता है, हम उनको बता दें कि ऐ नामर्दो ! तुमने अपना कर्तव्य भुला दिया है, मगर तुम्हारे घर की देवियों में यह भाव अभी तक ज़िन्दा है। (जोश से उठ कर बैठ जाती है।) जी चाहता है, हम उनको बता दें कि जो राजपूत युद्ध से भागकर घर की तरफ भागता है, उसके घर की स्त्रियाँ उसकी गर्दन काटने के लिए उसके घरके दरवाज़े पर नंगी तलवार लेकर खड़ी हो जाती हैं।

शक्ति—

(लिटाते हुए)—लेट जाइये ! आपके लिए यह जोश हानिकारक है।

महामाया—

परन्तु उस कायर के लिए हानिकारक नहीं है। (थोड़ी देर के बाद) वीरा ! क्या दुर्गरक्षक ने दरवाज़ा खोल दिया।

वीरा—

आप की आज्ञा का उलंघन कौन कर सकता है ?

महामाया—

यह मेरी आज्ञा न थी, मा जी का आदेश था, वर्ना मैं उन को दरवाजा कभी न खोलती। (एकाएक चिल्ला कर) वीरा ! शक्ति !! मालती !!! उठो, दौड़ कर जाओ। दुर्ग-रक्षक से कहो, दरवाज़ा न खोले, मैं ने अपनी सम्मति बदल दी है।

मालती—

दरवाज़ा खुल चुका, वे कभी के अन्दर आ चुके।

महामाया—

अब भी जाओ, मेरा मुँह क्या देख रही हो ? (मिन्नत से) अब भी जाओ, और उन सब भगोड़ों को धक्के मार-मार कर क़िले से बाहर निकाल दो, वर्ना इस पवित्र दुर्ग की पावन भूमि अपवित्र हो जाएगी।"

(एकाएक कुलीना का प्रवेश)

कुलीना—

नहीं मेरी बहादुर बच्ची ! तेरे क़िले के अन्दर आ कर उन की सोई हुई आत्मा जाग उठेगी।"

महामाया—

मा ! तू ने क्या कहा ? (उठ कर सास के गले से लिपट जाती है।) फिर कहो, मा ! फिर कहो, उन की सोई हुई आत्मा जाग उठेगी । मैं इस एक क्षण के लिए अपना सर्वस्व लुटा देने के लिए तैयार हूँ। मैं अपना राज दे सकती हूं, मैं अपना जीवन दे सकती हूं, मैं अपने जीवन को जीवन के उल्लास और प्रकाश से खाली कर सकती हूं । किसी तरह उन की आत्मा जाग उठे । वे फिर से वैसे ही वीर, वैसे ही निर्भय बन जाएं। मैं और कुछ नहीं चाहती।

कुलीना—

तुम मुझ पर विश्वास करो, मैं उसको सचेत कर दूँगी।

महामाया—

मैं आप के कहने पर मरने को भी तैयार हूँ।

कुलीना—

(बात का रुख़ बदलकर)—तुमने दवा पी या नहीं ?

महामाया—

(सिर झुकाकर)—अभी नहीं।

कुलीना—

मालती ! दवा दो, यह पगली आत्म-हत्या करने पर तुली हुई है।

(मालती दवा पिला देती है)

अब जसवन्तसिंह आ रहा है, उसका अपमान न करना। थका हुआ है, घायल है, कई रातों का जागा हुआ है। हार कर आया है, क्रोध में होगा। दरवाज़े पर पड़ा रहा है, लज्जित होगा। तुम्हारे कटु वचनों से और भी बिगड़ जायगा। तुम्हारी दो मीठी बातों से उसे सारे कष्ट भूल जाएंगे।'

महामाया—

(बेबसी से)—मा ! मुझे क़त्ल कर दो, मगर यह न कहो। मुझ से यह न होगा। मेरे हृदय में घृणा की आग जल रही है।

कुलीना—

आज सायंकाल से पहले-पहले वह फिर लड़ने को चला जायगा। (महामाया के सिर पर स्नेह से हाथ फेरकर) वह स्वभाव से योद्धा है, यह क्षणिक जीवन-प्रेम का भाव ज्यादा देर तक स्थिर नहीं रह सकता।

महामाया—

(आशापूर्ण स्वर से)—आज सायंकाल से पहले-पहले फिर लड़ने को चले जायँगे, यह कौन कहता है?

कुलीना—

मैं।

महामाया—

आप इन शब्दों का अर्थ समझती हैं?

कुलीना—

मैंने आजतक कभी झूठ नहीं बोला।

महामाया—

(हाथ बांध कर)—मेरा अपराध क्षमा हो, मेरा तात्पर्य यह कभी न था।

कुलीना—

चलो लड़कियो! यह कमरा खाली कर दो। (सहेलियों का चला जाना।) ले मेरी बच्ची! वह आ रहा है, उस से अच्छी तरह पेश आना, और कहना—रसोईघर में चलिये, मेरी श्रद्धा है, अपने हाथ से हलवा बनाऊँ और आप को अपने सामने बैठा कर खिलाऊँ।

महामाया—

मैं हलवा बना कर खिलाऊँगी ! नहीं यह मुझ से न होगा, मा !

कुलीना—

यह उस के मानसिक रोग को अमोघ औषधि है।

महामाया—

(आश्चर्य से)—हलवा !

कुलीना—

यह हलवा उस के गले के नीचे न उतरेगा। वह इसे केवल एक बार देखेगा और घोड़े पर चढ़ कर क़िले से बाहर निकल जाएगा। मैं उस भूले हुए शेर-बच्चे को शीशे के सामने लेजा कर उस का मुँह दिखा देना चाहती हूँ।

महामाया—

फिर इस हलवे का क्या होगा ?

कुलीना—

पुत्र के पुनरुत्थान के उपलक्ष में क़िले की स्त्रियों में बाँटा जायगा।

(कुलीना हँस कर चली जाती है।)

महामाया—

भगवान् उन की आँखें खोल दे, नहीं मेरा जीवन मेरे लिए असह्य हो जायगा।

(महाराणा जसवन्तसिंह धीरे-धीरे प्रवेश करते हैं । उन के सिर और भुजाओं पर पट्टियां बँधी हैं, मुँह का रंग पीला है, आँखों में लज्जा है। पति और पत्नी दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं और चुप रहते हैं। इस के बाद राणा पलंग पर बैठ जाते हैं, महामाया पास आ जाती है।)

जसवन्तसिंह—

(ज़मीन की ओर देखते हुए)—महामाया ! यह पराजय जीवन-भर न भूलूंगा।

महामाया—

(तीखी दृष्टि से देख कर)—ख़ैर, यह साधारण बात है। प्राण बच गये, यही बड़ी बात है ! प्राण-रक्षा राजपूत का सर्वप्रथम धर्म है !

जसवन्त सिंह—

मैं ने अपनी तरफ़ से पूरा-पूरा यत्न किया, परन्तु मेरी कोई पेश न गई।

महामाया—

सत्य है, असहाय मनुष्य क्या कर सकता है !

जसवन्त सिंह—

(महामाया की बात को न समझ कर ज़रा साहस से)—मनुष्य प्रारब्ध के हाथ का खिलौना है। वह उसे जिधर चाहती है, उठा कर फेंक देती है।

महामाया—

मनुष्य की इस से अच्छी परिभाषा मैं ने आज तक नहीं सुनी। कहिये, ज़ख़्मों का क्या हाल है ?

जसवन्त सिंह—

इस से तुम्हें क्या ? तुम ने अपनी तरफ़ से मेरा अपमान करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी।

महामाया—

आप ने भूल की, आप को आगे न बढ़ना चाहिए था। लड़ने के लिए सेना होती है, सेनापति को पीछे रहना चाहिए। उस का संकट में पड़ना उस की मूर्खता है।

जसवन्त सिंह—

(क्रोध से)—मालूम होता है, तुम मेरी हँसी उड़ा रही हो।

महामाया—

राम, राम ! मुझ में यह साहस कहां कि आप जैसे विश्वविजयी की हँसी उड़ा सकूं।

जवसन्त सिंह—

तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मैं तुम्हारा पति हूं और जोधपुर का महाराणा हूं।

महामाया—

(तिलमिला कर)—आप को भी मालूम होना चाहिए

कि मैं वीर-पिता की बेटी हूँ, और मुझे निर्लज्जता-पूर्ण जीवन से घृणा है।

जसवन्त सिंह—

तो क्या तुम चाहती हो कि मैं वहां मर जाता?

महामाया—

यह मेरे और मेरे कुल के लिए गौरव की बात होती।

जसवन्त सिंह

मुझे यह पता न था कि तुम्हें विजय इतनी प्यारी है।

महामाया—

मुझे विजय नहीं, आन प्यारी है। आन के सामने सारे संसार को तुच्छ समझती हूं।

जसवन्त सिंह—

घर में बैठी बातें करती हो, एक बार युद्ध में चली जाओ, तो होश ठिकाने आ जायँ।

महामाया—

पहले पुरुष चूड़ियाँ पहन लें, फिर स्त्रियाँ घर में रह जायँ, तो नाक कटा दूँ।

(कुलीना का हंसते हुए प्रवेश।)

कुलीना—

(महामाया को आँख से इशारा कर के)—क्यों बेटी! आते ही वाक्युद्ध प्रारम्भ कर दिया। तुम अभी मूर्खा हो। उठो, रसोईघर में चल कर अपने हाथ से हलवा बनाओ।

मेरा बेटा समर से जीता लौटा है। आज मैं अत्यन्त प्रसन्न हूं

जसवन्त सिंह—

मा ! तुमने सुना, यह स्त्री अभी-अभी क्या कह रही थी ? जी चाहता है......

कुलीना—

बेटा ! शान्त हो। यह तो गँवार है। तू चल कर रसोई में बैठ।

जसवन्त सिंह—

नहीं मा, मैं इसके साथ वहां कभी न जाऊँगा। उफ् ! कितनी हृदयहीन है, कहती है......

महामाया—

(तड़प कर)—क्या कहती हूं ?......

कुलीना—

(बात काट कर)—चुप बहू ! मैं आज के दिन तुम्हारा यह झगड़ा नहीं देख सकती। उठो, चल कर रसोई में बैठो, मगर सावधान ! कोई लड़ाई झगड़े की बात न करे। आज खुशी का दिन है।

—:o:—

तीसरा दृश्य

स्थान—उसी महल का रसोईघर

समय—दोपहर

(महामाया हलवा बना रही है। महाराणा किसी गहरी चिन्ता में निमग्न सामने बैठे हैं। महामाया उनकी तरफ देखती है, और उसकी आंखों से चिनगारियां निकलने लगती हैं। साफ़ मालूम होता है कि उसके हृदय में उथल-पुथल मच रही है।)

महाराणा—

सिपाहियों की मरहम-पट्टी हो रही है क्या ?

महामाया—

(रुखाई से)–हो रही होगी ? मैं ने आज्ञा दे रखी है।

महाराणा—

(थोड़ी देर चुप रहने के बाद)—देखता हूँ, तुम्हारा क्रोध अभी तक नहीं उतरा।

महामाया—

(भुने हुए आटे में चीनी की चाशनी डालते हुए)—उतरे या न उतरे, इस की आप को क्या परवा है ?

महाराणा—

तुम्हारे क्रोध की मुझे परवा नहीं, तो और किसे है ? मैंने अपनी अनुपस्थिति में क़िले का सारा भार तुम्हारे सुपुर्द कर दिया था। तुम ने आदेश किया, हम द्वार पर रोक दिये गये। यह मेरा घोर अपमान था, मगर मैंने तुम से एक शब्द भी नहीं कहा; क्योंकि मैं तुम्हारी

नेकनीयती स्वीकार करता हूं। तुम फिर भी कहती हो, मुझे तुम्हारी परवा नहीं! (हँसकर) चलो, अब जाने दो। जो हो गया, सो हो गया। और यह कोई ऐसी बात नहीं, जिस के लिए…"

महामाया—

(कढ़ाये में कड़छा मारते हुए)—आप के लिए यह साधारण बात होगी। मेरे लिए यह दिन मेरे जीवन का सब से बुरा दिन है।

महाराणा—

(तेज़ हो कर)—तो आखिर तुम क्या चाहती थीं? मैं मर जाता, तो तुम खुश हो जातीं?

महामाया—

कायरों के लिए मरना बड़ा कठिन है। वह मौत को देख कर दूर ही से भाग निकलते हैं।

(चूल्हे में लकड़ी झोंकती है)

महाराणा—

महामाया! तुम्हारा एक-एक शब्द विष में बुझा हुआ तीर है।

महामाया—

युद्ध से भाग कर आये हुए लोगों को मीठे वचन सुनने का कोई अधिकार नहीं।